उद्देश्य

...का संरक्षण तथा प्रसार।
...का विवेचन।
...का अनुसंधान।
... और कला का पर्यालोचन।

...ना

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है, उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक ३-४

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का ५.००

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

ग्रंथरत्नाकर

विमर्श

चयन

समीक्षा

विशेष सूचना

वर्ष ७२ संवत् २०२४ के अंक १–४ का संयुक्त विशेषांक वर्ष के अंत तक प्रकाशित होगा ।

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१] कार्तिक-माघ, संवत् २०२३ [अंक ३-४

राघवगीतम् या रामगीतम्

(अप्रकाशित संस्कृत गीतिकाव्य)

प्रभाकर शास्त्री

•

जयपुर नगर संस्थापक महाराजाधिराज स्वाई जयसिंह द्वितीय का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। इनके आश्रय में संस्कृत-संस्कृति-पोषक अनेक विद्वान् रहा करते थे। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक श्रीकृष्ण भट्ट संस्कृत साहित्य में 'कविकलानिधि' उपनाम से एवं हिंदी साहित्य में 'लाल' कवि के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। आप दाक्षिणात्य तैलंग भट्ट ब्राह्मण थे और अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर बूँदी से सम्मान बुलाए गए थे। इससे पूर्व आप भरतपुर, कामा, दिल्ली आदि स्थानों पर भी निवास कर चुके थे। आपके जीवन पर अन्यत्र[1] प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केवल उनकी रसपूर्ण रचना 'रामगीतम्' का विवेचन करना है।

'राघवगीतं या रामगीतं' एक मुक्तक रचना है। इसमें महाकवि जयदेव की रचना 'गीतगोविंद' का अनुकरण है। 'गीतगोविंद' में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को गीतिकाव्य के रूप में उपस्थित किया गया है और इसमें (कविकल्पना से) भगवान् श्रीरामचंद्र की रासलीलाओं को। यह रचना अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति अभी उपलब्ध[2] हुई है, जिसके आधार पर मूल ग्रंथ के उद्धरण उपस्थित करते हुए इसका परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

१. विश्वंभरा' शोध-पत्रिका, नागरी भंडार, बीकानेर से प्रकाशित, प्रथम वर्ष के चतुर्थ अंक में लेखक का परिचयात्मक लेख-'कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट', पृ० ७३ से ८०।

२. मुनि श्री कांतिसागर जी, भूपालपुरा, उदयपुर के पास लेखक की स्वहस्त-

ग्रंथपरिचय—यह संस्कृत भाषा में निबद्ध एक उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ है। ग्रंथारंभ में सर्वप्रथम लेखक अपने इष्टदेव श्री रामचंद्र की स्तुति करता है। आदि के छह पद्य प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना मात्र हैं, जिनमें भी चार पद्य भगवान् श्रीराम के विविध रूपों को उपस्थित करते हैं। ये पद्य आशीर्वादात्मक तथा नमस्कारात्मक मंगलाचरण के हैं। ये अलंकार एवं शब्द चमत्कार की दृष्टि से भी दर्शनीय हैं—

श्री रामो जयते जगत्त्यैक बन्धुः। अविघ्नमस्तु।
नीता येना-विनीता प्रसभमसुहृदस्त्रातभीता भराली
गीता यस्या विगीतामलचरितभृता चन्द्रशीता प्रशस्तिः॥
स्फीतामद्याप्यधीतामति सुकृतिजनैर्यः प्रतीतार्थवाणीं
चक्रे भीतापहृत्यै कलयतु कुशलं सोऽद्य सीतापतिर्नः॥ १॥

अनुप्रास अलंकार का यह सुंदर उदाहरण है। भगवान् श्री राम जिन्होंने लोक में अनेकों प्राणियों का भय दूर किया है, जिनकी चंद्रकिरणों के समान शीतल यशःप्रशस्ति सर्वत्र गाई जाती है, पुण्यात्माओं के द्वारा स्पष्ट प्रतीत होनेवाली वाणी को जो प्रगट करते हैं, वे ही सीतापति श्री राम हम लोगों के भय को दूर करें। इस पद्य में नीता, विगीता, अधीता, भीता, स्फीता, प्रतीता, भीता, सीता आदि पद क्त-प्रत्ययात स्त्रीलिंग के रूप हैं। लेखक की यह शब्द चमत्कृति दर्शनीय है—

धामात्युग्रमधारि येन दनुजोद्दामान्धयोन्छित्तये
श्यामानन्दिघनाघनद्युतिभृता कामाभिरामात्मना।
नामानन्दितसज्जनाखिलपरिखामाद्य दामातये
रामाकोटिशिखामणिच्छुवियुजे रामाय तस्मै नमः॥

इस नमस्कारात्मक मंगलाचरण में भगवान् श्री राम के तेजोमय रूप को नमस्कार करते हुए श्रीराम की लीलाओं का वर्णन करना लेखक का अभीष्ट है। प्रश्न है, श्री राम ने श्रीकृष्ण भगवान् के समान लीलाएँ कहाँ कीं? इस शंका का समाधान करते हुए लेखक स्वयं लिखता है—

अभ्रैराजितमभ्रमभ्रशिखिभिश्छन्ना तमालैः क्षितिः
सन्दीप्तास्तडितः स्फुरन्ति परितः श्रीचित्रकूटालयम्।
इत्थं प्रावृषिमागमस्त्वमधुनाप्येकाकिनी काननं
प्रोच्यैवं रहसि प्रियां रमयतो रामस्य लीलावतु॥

लिखित मूल प्रति विद्यमान है जिसकी प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में उपलब्ध है। प्रस्तुत लेख उसी के अनुसार है।

आकाश मेघाच्छन्न है, बिजलियाँ चमक रही हैं, संपूर्ण पृथ्वी तमालपत्रों से आच्छादित है—समय सुहावना है—यह जानकर चित्रकूट पर्वत पर विद्यमान श्री राम ने सीता जी को वर्षाऋतु के आगमन की सूचना दी और बोले—तुम इस समय इस वन में एकाकिनी हो, इस प्रकार एकांत में अपनी प्रिया के साथ रमण करते हुए श्री राम की लीलाएँ रक्षा करें।

वर्षाऋतु सुखी एवं संयोगी व्यक्तियों के लिये आनंदप्रदायिनी मानी गई है। न केवल वर्षा ऋतु में की गई श्री राम की लीलाएँ सभी को प्रफुल्लित करें अपितु वसंत ऋतु की क्रीड़ाएँ भी आनंदित करें—

श्रीचित्रकूटशिखरे विलसद्वसन्त-
मल्लीकदम्बसहकारसमूहलाम्द्रे ।
प्राणप्रियां जनकजां रमयन् रमेशो,
रामः सदैव कुशलं प्रकटी करोतु ॥ ४ ॥

'वसंत ऋतु' में जब मल्ली-कदंब-आम्रादि के वृक्ष खिल रहे हों—सर्वत्र सुगंध व्याप्त हो रही हो—इस प्रकार चित्रकूट पर्वत के शिखर पर विलास करते हुए प्राण प्रिया जनकनंदिनी सीता को प्रसन्न करते हुए श्री राम सभी को आनंदित करें।

अगले पद्य में कवि कलानिधि स्वयं के विषय में लिखते हैं—

वाचः पल्लवनं रसैकघलनं न्यायादि विद्याजुषां,
भूयो दुर्लभमेव यद्विवदतां वैरस्य भाजां नृणाम्।
तज्जानातितरां कलानिधिकविः श्रीकृष्णनामा मुहुः
श्रीमन्मैथिलनन्दिनीरमणसद्भक्तिप्रभावावहो ॥ ५ ॥

वाणी के पल्लवन एवं रस चमत्कृति को भगवान् श्री राम की सद्भक्ति के कारण कविकलानिधि श्रीकृष्ण यह अच्छी प्रकार से जानते हैं जिसे न्यायादिविद्यायुक्त सर्वदा विवादपरायण राजा लोग भी नहीं जानते प्रस्तुत रचना की प्रशंसा में वे लिखते हैं—

इदमलौकिकमाधुरसात्मकं, कलितकोमलकाव्यकलाकुलम्।
रघुपतेर्विशदं विशदं वचः शृणु कविप्रवरस्य कलानिधेः॥ ६ ॥

वास्तव में यह रचना अलौकिक है—श्रीराम का इस प्रकार का वर्णन अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। इसके पश्चात् लेखक 'अष्टपदी' के द्वारा श्रीराम का जयगान करता है—

जय रघुवंशभूषण राम गिरीशादि शोभन नाम।
जय कामिनीमुखनयनमानसकमलवनसुखधाम ॥ १ ॥

ध्रुवम् ॥

जय कायकल्पतरूपगतरततरुणता मधुकाम।
जय रूपमधुरिममंजरी कुलकलितमोहित वाम ॥ २ ॥
(जयरघुवंश०)

जय लोकनयन विलोल मधुकर मधुर मधुरस धाम।
जय भूमिकंटक रावणादिक जनित दुःख विराम ॥ ३ ॥
(जय रघुवंश०)

जय जह्नुजाजलधौतनिजपदकञ्जलसदभिराम।
जय मधुरमकराकारकुण्डलकलितललितललाम ॥ ४ ॥
(जय रघुवंश०)

जय जय भवन्तं रूपवन्तं रसिकवयमुपयाम।
जय जय विभो हे तव गुणावलिरिह हरतु भवदाम ॥ ५ ॥
(जय रघुवंश)

जय जय भयानक कलिमहातपजनजलदविश्राम।
जय कोटिकपटकुगरकं (?) तव नाम रहसि जपाम ॥ ६ ॥
(जय रघुवंश०)

जय देवि ! मधुरिमसागरे त्वयि नित्यमेव रमाम।
तव चरणमखिल भवापवर्गमेतदेव नमाम ॥ ७ ॥
(जय रघुवंश०)

जय देव देहि समर्थता मितमिन्द्रियाणि दमाम।
जय जनकजेश भजे यतोऽखिल पातकं विधमाम ॥ ८ ॥
(जय रघुवंश)

इति राघवस्तुतिगर्भितं रमणीयमञ्चितसाम।
कविवर कलानिधि भाषितं सुजने नमाम नमाम ॥ ९ ॥

लोककोकघनशोकसन्ततोन्मोकवासरमणो चिरन्तने।
चित्तसम्प्रविशरामनामनि त्वं निकाममभिराम धामनि ॥ १० ॥

इस प्रकार लेखक ने अष्टपदियों की रचना की है। प्रत्येक अष्टपदी की समाप्ति पर कवि ने एक पद्य द्वारा श्रीराम को प्रणाम किया है। द्वितीय अष्टपदी के अंत में निम्नलिखित पद्य है—

कामास्यर्थाभिरामा कृतिरतुलरामा मामरामा निषेव्यः
सामादिस्तोत्रधामा धवलतरयशोग्रामकामाभिगेयः।
वामाक्षामत्रियामा परिदृढ सुषमा मानदामापहारी
धामा सामान्यनामा कलयतु कुशलं कोऽपि रामाभिधानः ॥ ८।२ ॥

मूल ग्रंथ को देखने से ज्ञात होता है कि 'अष्टपदी' में आठ ही पद नहीं हैं, कहीं कहीं पर इनकी संख्या ११ तक भी पहुँच गई हैं। फिर भी उसे 'अष्टपदी' ही कहा गया है।

कथावस्तु

पूर्ण रचना १२ सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग में ६ अष्टपदियाँ हैं। इनमें विभिन्न वर्णन हैं। विभिन्न छंदों एवं विभिन्न अलंकारों का प्रयोग रोचक है। कथावस्तु का वर्णन संक्षेप में यों है—

प्रथम सर्ग—वनवास के १४ वर्षों में श्रीराम अपनी प्रिया धर्मपत्नी के साथ विभिन्न स्थानों में घूमते रहे थे। उनका अधिकांश समय चित्रकूट पर्वत पर पंचवटी नामक स्थान पर ही बीता था। वहाँ पर रहने के कारण आसपास के व्यक्तियों से उनका परिचय भी हो गया था और इस प्रकार वे वहाँ सुख का अनुभव कर रहे थे। ग्रामीण स्त्रियाँ सीता जी के पास आती रहती थीं। इसलिये उन्हें भी एकाकीपन का आभास नहीं होता था। वे स्त्रियाँ ही उनकी सखी के रूप में रासक्रीड़ादि में उपस्थित की गई हैं।

वसंतऋतु है। मलयाचल की चंदनमिश्रित वायु बह रही है चंद्रमा की कांतियुक्त किरणें वियोगिनी स्त्रियों को कष्ट दे रही हैं। श्रीराम भी पंचवटी से कहीं दूर गए हुए हैं। उस समय प्राकृतिक परिवर्तन देखकर उन्हें श्री राम की याद आई। आसपास सभी स्थानों पर अन्वेषण कराया पर वे न मिले। श्री सीताजी अत्यंत विरहातुरा हो रही थीं, उसी समय एक सखी ने उन्हें बताया कि यहीं चित्रकूट पर्वत के समीप सरयू नदी के किनारे श्रीराम बैठे हुए हैं। उस सखी ने अष्टपदी द्वारा श्री सीताजी से वर्णन किया—**इह सरयूतट के लिवने, प्रियस्तव विलसति मोदघने**......। इसमें श्रीराम का सीताजी के प्रति अनुराग व्यक्त किया गया है।

द्वितीय सर्ग—विरहातुरा श्री सीताजी ने 'मान' कर लिया था। वे सखी के कहने पर भी प्रसन्न नहीं हुईं। तब एक अन्य सखी ने वार्तालाप के प्रसंग में सीताजी से उसी प्रासंगिक विषय पर उपदेश देना प्रारंभ किया—**चिंतय कृत सरयूतटवासं रामं रतिपतिविहितविलासम्**...। इस प्रकार बार बार कहने पर सीताजी का मान समाप्त हुआ और सखियों के कहने पर उन्होंने शृंगार किया। उधर श्री राम ने सरयू नदी के तट पर केलिक्रीड़ा करने का निश्चय किया—

इत्याकर्ण्य सखीवचो जनकजा शृंगारलीलाभरै-
रात्मानं स्मरदारकोटिजयिनं संभूषयामास यत्।
तच्छ्रुत्वा रघुनन्दनोऽपि सरयूतीरे निकुञ्जालये
चक्रे कौसुमकेलितल्पकलनाकाङ्क्षां स्वकीयैर्जनैः ॥११॥

एक चतुर सखी ने सीता जी के सौंदर्य को देखकर उनका पूर्ण शृंगार किया। उनका अंग प्रत्यंग दमक उठा। सखियाँ हास परिहास करने लगीं, परंतु उन्हें तो केवल श्री राम के दर्शन की उत्कंठा थी। अत्यंत आतुर होकर अंत में श्री सीताजी सखियों से अपनी इच्छा प्रकट कर सकीं—दर्शय मे रघुनन्दन वदनम्... । इसमें उनके मुख के विभिन्न उपमान बतलाते हुए सौंदर्यातिशय का वर्णन किया गया है।

तृतीय सर्ग—सीताजी प्रफुल्लित वदना हैं। उनका सारा शरीर दमक रहा है। एक सखी सरयूतट की कुंजों से घूमती हुई आई है और वह सीतावियोग में अत्यंत दुखी श्रीराम की वियोगावस्था का वर्णन श्री सीता जी से कर रही है—

> जानकि तव विरहेण दूयते रघुपति रतिरतिशाली।
> गतिमतिमति सप्रेममना अपि भवदागम संभाली ।। ध्रुवम् ।।

श्रीराम की विरहावस्था सुनकर श्री सीताजी भी उत्कंठित हो गई। वह अपने मनोवेग को रोक न सकीं और सखी से उस स्थान पर पहुंचाने को कहने लगीं, जहाँ से वह आई है अर्थात् जहाँ प्राणपति श्रीराम वियोगावस्था में बैठे हैं—

> इत्युक्त्वा जनकाधिराजतनया सख्या रहस्यातया
> पूर्णप्रेमविवर्द्धनप्रचुरया सज्जाभिगन्तुं प्रियम्।
> लज्जामात्मविलग्नचेतसि तृणीकृत्योत्सुका दर्शने
> तामाह प्रसभं सखिप्रणयिनं मां प्रापयेत्येवसा ।।

सखी ने श्री सीताजी को अभीष्ट स्थान पर पहुंचा दिया। श्रीराम ने अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेवाली सखी को पारितोषिक दिया और उसे विदाकर एकांत में भगवान् कामदेव की आराधना करने लगे—

> सीतादर्शन कामलोलहृदयः पूर्णाभिलाषप्रियः
> तस्यै प्राज्यतरं प्रसादममदात्सख्यै रघूणां पतिः।
> अन्तःकुंजनिकेतनस्थसुमनस्तल्पाय सार्द्धं तया
> सोत्पर्थं स्पृहयाम्बभूव सुरतक्रीडाविधौ तत्परः ।।

चातुर्थ सर्ग—इस सर्ग का नाम है 'प्रियाप्रियसंगम्'। इसमें सखियाँ श्री सीताजी को शृंगारोपदेश देती हैं। उन्होंने जब जान लिया कि श्री सीताजी का श्री राम के साथ मिलन हो चुका है तो यह उपदेश देना आवश्यक समझा। यह नर्म सखी थी। उस समय श्री राम भी वहीं उपस्थित थे। नर्म सखी द्वारा प्रयुक्त—

> समुपागता रमणेन सहत्वं विरचय केलिकलापम्।
> रघुनाथेन साकमुररीकुरु विलसितममर दुरापम् ।। १ ।।
> लीलया रतिशीलया सखि, रमय राममनुरूपम्।
> स्वत्प्रणयैकविलासवशं रघुवंशशिरोमणि भूपम् ।। ध्रुवम् ।।

उक्त अष्टपदी को सुनकर श्री राम भी तरंगित हो उठे और उन्होंने भी अष्टपदी द्वारा यह बतलाया कि यह सरयूतट ही केलियों के लिये अत्यंत सुंदर स्थान है। श्री राम द्वारा प्रयुक्त 'अष्टपदी' को सुनकर सभी सखियाँ लज्जित हो उठीं। श्री सीताजी की मनोदशा एवं रूपसौंदर्य दर्शनीय था। सखियाँ श्रीराम के मनोगत भावों को समझकर किसी न किसी बहाने से इतस्ततः चली गईं। इस प्रकार श्रीराम को पुनः एकांत मिल गया।

पंचम सर्ग—श्री सीता जी को यह भय लगा कि कहीं श्री राम मुझे छोड़कर अन्यत्र न चले जाँय। संयोग के बाद वियोग दुःखावह होता है। उन्होंने श्रीराम को प्रसन्न करने के लिये सभी सखियों को बुलाया—

अथ सीतारतरीतावुत्साहवतीवियोगलवभीता।
अभिरामं रघुरामं रमयतुमामन्त्रयत्सखीः सर्वाः ॥१॥

सखियाँ पुनः एकत्र हुईं। सभी ने मिलकर गान प्रस्तुत किया जिसका आशय था—श्री राम और सीता को परस्पर प्रेमलाप का उपदेश देना। वह अष्टपदी है—

हे जानकि, हे राघव, सम्प्रति रमणमुभौ सन्तनुतन् ॥ ध्रुवम् ॥

श्री राम ने पुनः केलिक्रीडा प्रारंभ की जिसे देखकर देवता भी प्रसन्न हुए। रासनृत्य रचा गया। भगवान श्री कृष्ण के समान ही श्रीराम प्रत्येक सखी के साथ नाचने लगे। एक घेरा बनाया गया और उसके बीच श्रीसीता जी खड़ी थीं।

षष्ठ सर्ग—प्रस्तुत सर्ग में भगवान् श्री राम एवं श्रीसीता जी की 'मधुकेलि' का चित्ताकर्षक वर्णन है। वर्णन करते हुए कवि इस प्रकार लिखते हैं—

उन्मीलन्मधुकेलिकौतुककलाविष्टस्फुरज्जानकी
कान्तस्वान्तनितान्त रोपितशरौघे निर्विशेषं स्मरे।
व्यामिश्रप्रसराः प्रियाप्रणयिनोर्वक्राकटाक्षच्छटाः॥
नीलाम्भोरुह पुण्डरीकपटलारम्भं प्रचक्रुस्तराम् ॥११॥

श्री जानकी जी भगवान् श्री राम के समीप होने से परम प्रसन्न हैं। वे यही चाहती हैं कि श्रीराम सर्वदा साथ ही रहें एवं इस रसमयी स्थिति का अंत न हो।

सप्तम सर्ग—इस सर्ग में भी श्री राम तथा सीताजी की केलि का वर्णन है। यह केलिक्रीडा गत सर्गों से भिन्न है अतः पुनरुक्ति नहीं। चंद्र की किरणें संयोगी नवदंपतियों को क्रीडा की प्रेरणा प्रदान करती हैं। ये ही किरणें वियोगावस्था में दाहक हो उठती हैं। इस प्रकार चंद्र की स्वच्छ चाँदनी में बैठे हुए भगवान् श्रीराम तथा जानकीजी सखियों द्वारा गाई जानेवाली अष्टपदियों से प्रभावित होते हैं एवं नाना प्रकार से क्रीडा करते हैं—

अथोदियाय पूर्णतां दधान एवशीतरुक्
कुमुद्वतीकदम्बबन्धुरम्बुजद्विषत्तमः ॥ १ ॥
दिगंगनामुखाब्जचारु कुंकुमानुलेपभृत्
प्रदोषतां ततामसेभकुम्भभेदकेसरी ॥२॥

उस समय कोई सखी गाने लगी, कोई ताल देने लगी, कोई वीणावादन में मत्त हो रही है तो कोई स्वरसंयोग में व्यस्त है। इस प्रकार सभी सखियों के बीच भगवान् श्री राम ने 'वेणुवादन' प्रारंभ किया —

काचिद्गायति तालमन्यवनिता दत्तेतिमत्तेक्षणा
वीणां वादयते च काचन परासंगे ददाति स्वरम्।
सर्वं सर्वं समाज एव दधति स्वैरं रसोत्सादितां
मध्ये श्री रघुनाथ वेणुरणितं रेजेऽखिलोत्साहदम् ॥१०॥

अष्टम सर्ग—इसमें 'रासवर्णन' है। यह सर्ग बहुत बड़ा है। श्रीसीता जी को कामदेव द्वारा छोड़े गए तीक्ष्ण बाण सर्वदा भयभीत किया करते थे। सीताजी ने श्री राम को 'रासलीला' रचने के लिये कहा। श्री राम रासलीला में दक्ष थे ही। उन्होंने मनसा समाज को उत्पन्न किया —

इत्याकर्ण्य प्रेयसी मञ्जुवाक्य
रासक्रीडा दक्षिणो रामचन्द्रः।
तत्कालोत्थानन्दभाजं समाजं
चित्तादाविर्भावयामास शीघ्रम् ॥

'राधाकृष्ण' की रासलीलाओं का स्मरण करते हुए श्री राम सीता ने रास क्रीडाएँ कीं। गीतवाद्यादि की ध्वनियाँ गूँज उठीं। शृंगारिक लीलाएँ प्रारंभ हुईं। अन्य नारी-समूह के साथ श्री सीताजी भगवान् श्री राम को देखकर प्रसन्न हो रही थीं।

नवम् सर्ग—रासलीला चलती रही। किसी को भी थकान नहीं हुई। सीता और राम ही वास्तविक थे अतः ये दोनों परस्पर दर्शन से परिश्रम रहित हो जाते थे। श्रीसीताजी अपनी अंगकांति से श्री राम को प्रसन्न कर रहीं थीं -

रमयति सीता दशरथनन्दनमंगमयूखसमूहैः।
कोटि रमारमणीयसहस्रै रागमनिगमदुरूहैः ॥

इस 'अष्टपदी' में कवि ने भगवती श्री सीता जी की अंगशोभा का वर्णन किया है।

इस रासलीला से सर्वत्र विक्षोभ होगया—पत्थर पिघलने लगे, जल निश्चल हो गया, त्रिलोकी संभ्रमित हो गई, शंकर तथा ब्रह्मा की समाधि भी भंग हो गई—

अरमानो द्रवतामवापुरुदकं तस्सारवंशीरवं
सद्यो निश्चलतामगात् त्रिभुवने जातो महान् संभ्रमः ।
शम्भोः पद्ममुवश्च बाधितमिवाचीर्त समाधिव्रतम्
श्री रामस्य विलासरासविभवे वंशीरवे दीव्यति ॥ २६ ॥

दशम सर्ग—इसमें खंडितादि नायिकाओं का वर्णन है। नायिकाओं के लक्षणों को कवि कलानिधि ने श्रीसीताजी पर घटाया है। नायिकाभेद के अनुसार ये सभी उदाहरण स्वीया नायिकाओं के हैं। पहले तो श्रीराम (अनुकूल नायक) अकेली अपनी नायिका श्रीसीताजी से पूर्ण संतुष्ट नहीं हुए अतः उन्होंने समय भेद से, अवस्था भेद से तथा क्रिया भेद से अनेक रूप धारण कर नायिका के साथ रमण किया—

एकाकिनो न रमणं रसपूर्णभुक्त्यै,
नाप्येकपत्न्युपगतस्य रघूद्वहस्य ।
तस्मादनन्त शतकोटिनिजस्वरूपैः
रेमे रमा च रमणीरमणश्च रामः ॥ ३ ॥

श्रीराम सीता से वियुक्त हो जाते हैं। श्रीसीताजी उन्हें सोता हुआ छोड़कर अन्यत्र चली जाती हैं। श्रीराम उन्हें सर्वत्र ढूँढ़ते हैं परंतु वह कहीं भी नहीं मिलतीं। श्रीराम वियोगातुर होकर सीताजी की नर्म सखी से कह रहे हैं—

कथय सखि ! त्वमिदं कथमासे प्रियया तया विनाऽहम् ।
दहतितरामङ्गानि मनोभरधिकविरहपरिणाहम् ॥
ध्रुवम् ॥ १ ॥

वे उसे ढूँढ़ने तथा मान त्याग करने के लिये कहते हैं। सीता ने देखा कि श्रीराम रात को किसी अन्य नायिका के साथ रमण कर रहे थे अतः उसने मान कर लिया और वहाँ से अन्यत्र चली गईं। सीताजी ने नर्म सखी से कहा—

पश्य, सखि, पश्य मत्प्रियतमालिकमम्,
यामिनीमन्यसदने कुरुत विभ्रमम् ।
तावदिह महावीरो महाविक्रमं,
कलयते मयि शरैरात्मनो निःसमम् ॥ १२ ॥

नर्म सखी सीताजी द्वारा श्रीराम की लीला को सुनकर पुनः सांत्वना देती हुई कहती है—प्रिय सीते, श्री राम के विषय में व्यर्थ ही शंका मत करो। ये तुम्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते, तुम्हारे बिना उनका एक क्षण भी एक कल्प के समान व्यतीत होता है, इत्यादि खंडन पूर्वक उसने श्रीराम की विरहावस्था का वर्णन

किया। राम की विरहावस्था सुनकर श्री सीताजी 'मान' भूल गईं। उन्हें प्रतीत होने लगा मानों उनका श्रीराम से विरह ही हो गया है। विरहिणी दशा को प्राप्त श्री सीताजी को नर्म सखी ने सांत्वना दी और श्रीराम से मिलन करा देने का वचन दिया। उसने जाकर श्रीराम से सारी स्थिति का वर्णन किया। श्रीराम नर्म सखी के साथ श्रीसीताजी के पास आए और प्रणाम कर सरयूतटगत कुंजवन में पुष्पशैया पर रमण करने लगे—

सरयूतटमञ्जुकुञ्जभूमौ चतुराकल्पचारुपुष्पतल्पे।
रमणो रमयां बभूव रामां स इमां कोटिरतिप्रभाभिरामाम्॥ १६॥

ग्यारहवां सर्ग—इस सर्ग में वर्षा ऋतु का वर्णन है। सर्ग का नाम है—'घनऋतु महोत्सव'। इसका प्रारंभ निम्नलिखित पद्य से है—

अथ तरुवल्लिविचित्रे मित्रे मदनस्य चित्रपुष्पवने।
रामं सेवितुकामः कामं जलदागमः समायातः॥ १॥

श्री राम ने वर्षा ऋतु को संप्राप्त जानकर सीताजी से अष्टपदी द्वारा वर्णन किया—

समुदेति खे जनकात्मजाजलदाघटा जलदामियम्।
चपलेव नायककण्ठजाजनि हेलितावनि या ह्रियम्॥ ध्रुवम्॥

नर्म सखी ने वर्षावर्णन के अनुरूप एक सुमधुर गीति गाई—वर्षा कालीन शृंगार की सारी सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसका होना आवश्यक है। श्रीराम ने गीति श्रवण कर वांछित सामग्री उपस्थित कर दी—गीतियां और अष्टपदियाँ गाई जाने लगीं।

बारहवाँ सर्ग—इस सर्ग में शरदोल्लास का वर्णन है। वर्षा के पश्चात् शरद् ऋतु का आगमन होता है। इसमें नायक-नायिकाओं की शरत्कालीन क्रीडाओं का वर्णन है। कविकलानिधि ने ७ पद्यों में शरद ऋतु का वर्णन किया है। उनका कथन है कि शरद्कालीन चंद्रमा की स्वच्छ चन्द्रिका ने कामोद्दीप्त कर दिया। श्रीराम और सीता मिलन की आकांक्षा से विह्वल हो उठे और समीपस्थ नर्म सखी से सीता को बुलाने के लिये 'अष्टपदी' में कहने लगे। उसे सुनकर नर्म सखी सीताजी के पास गई और 'अष्टपदी' के द्वारा उसने कहा—

शृणु जानकि! ममवचमुदारामेहि रमण सविधे धृतहारा।
विशदाभरण वसन परिधाना समभिसर प्रियतममतिमाना॥ १॥ ध्रुवम्

नर्म सखी की बात सुनकर श्री सीताजी अपने प्रिय श्रीराम से मिलने चलीं। श्री राम ने जब नूपुरध्वनि सुनी तो वे आती हुई श्रीसीता को सतृष्ण दृष्टि

से देखने लगे। जब वह अत्यंत समीप आ गई तब नर्म सखी ने अष्टपदी द्वारा बतलाया कि श्रीराम समीप ही हैं—

परिपश्य जानकि ! नायकं रघुनायकं सुखदायकम्।
रमणीकया समलायकं शरदच्छचन्द्र सहायकम् ॥१॥ ध्रुवम् ॥

श्री सीताजी ने सतृष्ण नेत्रों से राम के मुखारविंद की मधुरिमा का पान किया। इसी समय नर्मसखी ने कल्पवृक्ष के नीचे अत्यंत विस्तृत पुष्पशैया देखकर 'अष्टपदी' द्वारा संकेत किया कि वे दोनों उस पर क्रीड़ा करें। 'अष्टपदी' का यह परिणाम हुआ कि श्री राम सीताजी के साथ 'केलिक्रीडासक्त' हो गए।

यहाँ द्वादश सर्ग की समाप्ति है। इसके पश्चात् पाँच अष्टपदियाँ हैं। ये सभी अष्टपदियाँ कवि कलानिधि ने उपसंहार रूप में रची हैं। ततश्च कुछ पद्यों में सीताराम का शृंगारिक वर्णन भी मिलता है। ये सभी मुक्तक पद्य हैं, यथा—

जङ्घाद्वंद्वमयुद्ध सर्वं पुरतो भारो नितम्बे पत-
द्विम्बोष्ठस्य कपोलयोश्च समभूद्दन्तक्षतानां भरः।
कामिन्या रतिसंगरे स्मरशरावेशस्खलत्कञ्चुकी
मध्यादुल्लसितौ स्तनौ मदवशान्मुक्तौ मतंगाविव ॥१३॥

इसके बाद श्रीसीताजी श्रीराम से दो अष्टपदियों में चरण तथा मुखमंडन के लिये कहती हैं। श्री राम ने तदनुसार मंडन भी किया। श्री राम की स्तुति करते हुए कविकलानिधि लिखते हैं—

वंशे वीर विदेहजे जय जयव्यक्तावतारे त्वयि
त्वास्तं कान्त निशान्तमान्तरमहोत्सान्तं तनोतु त्वरम्।
त्वय्येवाविरतं रतं न विरतं भूयात्कदाचित्सदा
त्वानन्दाख्यपदे तदेकमनसा कामाभिरामे रमे ॥२१॥

अंत में कविकलानिधि ने अपनी प्रशंसा में कुछ पद्य दिए हैं जिसे लेखक की गर्वोक्ति कह सकते हैं।

ग्रंथ की समाप्ति पर या अन्यत्र कहीं भी रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। अतः इसका समय पूर्ण रूपेण निश्चित नहीं किया जा सकता। आनुमानिक रूप में यह रचना संवत् १७७० से १७८५ के मध्य की होनी चाहिए। इसकी रचना के संबंध में उस सुप्रसिद्ध किंवदंती का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिस कारण लेखक को 'रामरासाचार्य' की उपाधि मिली थी।

प्रस्तुत रचना 'राघवगीतम्' गीतिकाव्य है, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। इसमें प्रयुक्त अष्टपदियों की लय विभिन्न हैं। संगीतशास्त्र के अनुसार इनका गेयत्व सिद्ध है। अष्टपदियों में सर्वप्रथम प्रयुक्त पंक्ति का प्रत्येक पद के साथ गान होता है।

उदाहरण के रूप में प्रथम सर्ग में ही वसंतागम से विरहातुरा श्री सीताजी को सांत्वना देती हुई तथा श्री राम को दिखाती हुई नर्म सखी ने अष्टपदी प्रस्तुत की है—

इह सरयूतटकेलिवने, प्रियस्तव विलसति मोदघने ॥
कुसुमपरागविपुलपटवासैराहितकेलिविलासी ।
अरुणरजोभरमुष्टिभिरनुलव-निज संसदि परिहासी ॥ इह०
त्वयि कर्णौ कुरुते नयने त्वयि रसनामपि त्वयि गाने
प्रत्यङ्गं पुलकयति समोदः त्वयि परिरम्भणदाने ॥६॥ इह०
हा हा जनकराजवरतनये पत्यौ मा कुरु मानम् ।
वक्षसि कलितनिजप्रतिबिम्बितदर्शनपरमनिदानम् ॥७॥ इह०
तव विरहे रघुनन्दनचिरं भ्रमति विना निज चित्तम् ।
मधुसमये न हि किंचन समये इह केलिकलहमनिमित्तम् ॥८॥इह०

प्रत्येक अष्टपदी के प्रारंभ में भूमिका रूप में वर्णिक छन्दों में प्रसंग तथा संबंध का सूचन है। इस अष्टपदी के पूर्व दो पद्य दिए हैं—

मलयगिरिदरीषु प्रोन्मिलच्चन्दनद्रु-
भुजगगरलभारस्फारफूत्कारधारी ।
हरनिहतमनोजप्राणसंत्राणकर्ता ॥
ज्वलयति विरहाग्निं दाक्षिणात्यः समीरः ॥११॥

सीतांशुद्युतिकौमुदीकृत समुद्वेगा वियोगातुराः
कामिन्यः सततं हितश्रवणतः किञ्चित्कृताकर्णकाः ।
प्रोन्मीलत्सहकारशाखिविलसत्कण्याङ्कुरास्वादन-
क्रीडन्मत्तपिकीकुहूकलरवैर्भूयो भृशं तापिताः ॥१२॥

इसी प्रकार अष्टपदी के अंतिम पद्य को लेखक ने अपनी छाप से अंकित रखा है, महाकवि जयदेव के समान—

सेवित कवि पदसु कविकलानिधि मुखचन्द्रामृतकल्पम् ।
शृणुत रामविषयेषु सु(?)महोज्वल वर्णनमेतदनल्पम् ॥ इह०

इस प्रकार प्रत्येक सर्ग में अष्टपदियों की संख्या ७ ८ से न्यून नहीं है।

'राधाकृष्ण' के समान जो लीलाएँ हुईं, उनपर कवि ने अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया है। राधाकृष्ण की लीलाएँ द्वापर में हुईं और श्री राम सीता की लीलाएँ त्रेता युग में। परंतु राधाकृष्ण की लीलाएँ प्रसिद्ध होने से उपमान मान ली गईं और लिखा—

जातं राधाकृष्णरूपेण रासं सीतारामौ चिन्तयित्वा स्वचित्ते ।
भूयोऽप्याविर्भावयाचक्रतुस्तौ युक्तं लक्ष्मीकोटिरामासमूहैः ॥
एको रामः कोटिरामासमूहैः रेमे यावन्त्येव रूपाणि धृत्वा ।
रामास्तावन्त्येव रूपाणि ते नु स्तनैर्वोच्चैः प्रेयसा संविहर्तुम् ॥ १३ ॥

दशम सर्ग में राम अपनी स्थिति का वर्णन नर्म सखी से कर रहे हैं—

कथय सखि ! त्वमिदं कथमासे, प्रियया तया विनाहम् ।
दहतितरामङ्गानि मनोभूरधिक विरह परिणाहम् ॥ ध्रुवम्
लगति कृपाणी कोकिलवाणी तच्चिन्तनमनुचितम् ।
अलिकुलगीतं कलयति भीतं मामिह तदखिलचित्तम् ॥
तामानय मानय सम्मानय मनसि वितानय मोदम् ।
त्वमधिकरता ममधृतपक्षा कलय विलासविनोदम् ॥

कवि कलानिधि अपने समय के सुप्रसिद्ध आलंकारिक कवि हैं। शब्दालंकारों के चित्रण में ये सिद्धहस्त हैं। पूर्वोक्त सभी पद्यों में इनकी छटा देखने को मिलती है। परंतु यह नहीं कि उनमें अलंकार की ही मुख्यता है, अर्थ गांभीर्य नहीं। श्रीराम की स्तुति में वे कहते हैं—

वंशे वीर विदेहजे जयजयध्यक्तावतारे त्वयि
स्वान्तं कान्त निशान्तमान्तर महोत्तान्तं तनोतूत्त्वरम् ।
त्वय्येवाविरतं रतं न विरतं भूयात्कदाचित्तदा
स्वानन्दावयपदे तदेकमनसा कामाभिरामे रमे ॥ २१ ॥

ग्रंथ की समाप्ति पर लेखक की ये गर्वोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

माधुर्यं प्रसरत्सुधारसरमाधुर्यं समास्वादन-
स्वानन्दे रसिकोत्तमाः किल समाधुर्य नराः केचन ।
श्री श्री कृष्णकलानिधानकविना तस्यायनं सम्प्रति-
प्रोक्तं राघवजानकीसुचरिते संचारिकाव्यं नवम् ॥२४ ।
ये पीयूषद्रवीणातिशयकलरवीणाच्छवीणाप्रवीणा
तत्सर्वाखर्व गर्वा सह न महहयत्माधुरी साधुरीतिः ।
श्री कृष्णाख्यः कविस्तज्जगति जनितवान् जानकीरामगीतम्
प्राज्ञा शृण्वन्तु भाग्याच्छिवरिह सकलानां कलानाम् ॥२५॥

॥ इति रामगीतं सम्पूर्णम् ॥

यद्यपि कविकलानिधि का यह विषय एवं इसकी प्रेरणा का स्रोत जयदेव के गीतगोविंद के अतिरिक्त रास पंचाध्यायी भी रहा है किंतु रासपंचाध्यायी से तो केवल

वस्तु का ग्रहण मात्र है वह भी संपूर्ण रूप में नहीं। महाकवि जयदेव के गीतगोविंद का ही पूर्ण अनुकरण है।

जयदेव और कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट

जिस प्रकार गीतिकाव्यों में जयदेव का 'गीतगोविंद' संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है उसी प्रकार जयपुर के संस्कृत साहित्य के इतिहासप्रसिद्ध महाकवि कवि कलानिधि श्री कृष्ण भट्ट की रचना 'गीतराघवम्' प्रसिद्ध है। यों तो इनकी अनेक रचनाएँ हैं, परंतु रामगीतम् उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। ये भगवान् श्रीराम के उपासक थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के समान श्रीराम की रासलीलाएँ प्रस्तुत कर दीं। इसपर ही जयपुर प्रतिष्ठापक श्री जयसिंह द्वितीय ने इन्हें रामरासाचार्य की उपाधि से विभूषित किया। यह रचना शृंगार रस प्रधान होते हुए श्रीराम सीता के गुणगान से ओतप्रोत है।

कलानिधिजी का रामगीतम्, रामगीतम्, या गीतराघवम् गीतगोविंद या गोविंदगीत के अनुकरण पर निर्मित है। गीतगोविंद के समान इसमें भी १२ अध्याय (सर्ग) हैं—उसी क्रम से श्लोक, पद, गीति आदि की रचना की गई है। इस दृष्टिकोण से यह रचना भी संस्कृत प्रेमियों के क्षेत्र में आने योग्य है। महाकवि जयदेव की रचना के समान ही कोमलकांतपदावली भी है। विशेषता यह है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जो एकपत्नीव्रती थे, उनकी रासलीला का वर्णन इन्होंने किया। श्रीराम की रासक्रीडाओं के संबंध में अन्य रचनाएँ आजतक अनुपलब्ध थीं। कथावस्तु का प्रसार कवि की अपनी सूझ है। जिस प्रकार महाकवि जयदेव ने आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया है उसी प्रकार कविकलानिधि ने भी। उदाहरणार्थ-

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥ १ ॥

—गीतगोविन्द प्रथम सर्ग

नीता येनाविनीताः प्रसभमसुहृदः शान्तभीता मराली,
गीता यस्या विगीतामलचरितभृता चन्द्रशीता प्रशस्तिः।
स्फीतामध्याप्यधीतामति सुकृति जनैर्यः प्रतीतार्थवाणीम्
वाङ्के भीतापहस्यै कलयतु कुशलं सोऽद्य सीतापतिर्भः॥ २ ॥

—गीतराघवम् प्रथमसर्ग

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट का काव्यसामर्थ्य एवं काव्यगत वैशिष्ट्य स्वतः प्रतीत हो जाता है।

*

वैयाकरण कवि मार्कंडेय तथा उनका काल

श्यामनारायणसिंह यादव

अपने बारे में कुछ न लिखने अथवा अत्यल्प संकेत देने की प्रथा तथा जीवित कवियों के बारे में कुछ न लिखने की परंपरा के कारण प्राचीन कवियों के जानने और समझने में बहुत बाधा पहुँची है। प्राकृत के ख्यातिप्राप्त कवि मार्कंडेय के बारे में भी यही समस्या है। यों तो मार्कंडेय को 'प्राकृतसर्वस्व' के रचयिता के रूप में सारा संसार जानता है परंतु उनके समय के बारे में विद्वानों को भ्रम है तथा उनकी काव्यात्मक उपलब्धियों का समुचित विवेचन नहीं हो पाया है। अंतःसाक्ष्य एवं बहिः साक्ष्य के आधार पर मार्कंडेय का समय निर्धारण और कवि रूप प्रतिष्ठा ही प्रस्तुत निबंध का विवेच्य है।

सर्वप्रथम पिशेल ने 'कैटलगस कैटलगोरम' के आधार पर मुकुंददेव का शासनकाल १६६४ ई० मानते हुए मार्कंडेय का समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना। पिशेल की इस स्थापना ने बाद के विद्वानों को धोखे में रखा। ग्रियर्सन ने अपने कई निबंधों मे लिखा है कि मार्कंडेय सत्रहवीं शताब्दी के थे और उनके इस मत को कीथ, ब्युलर, कात्रे तथा घोष ने भी माना है।[1] केवल फ्रेंच विदुषी नित्ती डोलशाई इस मत से असहमत होती हुई कहती है कि मार्कंडेय का समय इससे और पहले का है।[2] अपने मत की पुष्टि में वह कहती है—

1. क—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, कीथ, पृ० ४२४।
   ख—इंट्रोडक्शन टू प्राकृत, व्युलर, पृ० १४।
   ग—प्राकृत लैंगवेज ऐंड देयर कंट्रीब्यूशन टू इंडियन कल्चर, कात्रे. पृ० ३१।
   घ—म० मो० घोष द्वारा संपादित प्राकृत कल्पतरु, पृ० १०, २ तथा अन्यान्य।
2. ले ग्रामर, पेरिस, १९३८, पृ० ९०-९१।

१. पिशेल[3] के कथनानुसार मार्कंडेय द्वारा उद्धृत वसंतराज को छोड़कर कोई भी कवि ९६४ शकाब्द अर्थात् सन् १०४२–४३ के बाद का नहीं है। वसंतराज का समय भी अनिश्चित है।

२. मार्कंडेय ने लिखा है कि उसने एक सट्टक की भी रचना की है जिसका नाम विलासवती है। इस पुस्तक का उल्लेख १४वीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया है।

मिसी दोलशाई भी केवल संदेह करके छोड़ देती है और कोई निश्चित काल हमें नहीं दे पाती। उसने भी लोगों को भ्रम में डाल दिया जब उसने यह लिखा कि मार्कंडेय ने रस गंगाधर से उद्धरण दिए हैं और रस गंगाधर की रचना सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में हुई है।[4] तब तो बात जहाँ थी वहीं रह गई। दूसरे तर्क के बारे में कहा जा सकता है कि साहित्यदर्पण में उल्लिखित 'विलासवती' निश्चय ही मार्कंडेय रचित 'विलासवती' से भिन्न है। साहित्यदर्पण में लिखा है कि 'विलासवती' एक नाट्यरासक था जब कि मार्कंडेय की विलासवती एक सट्टक। विश्वनाथ ने स्वयं सट्टक की परिभाषा दी है और कर्पूरमंजरी को इसका उदाहरण बताया और फिर नाट्यरासक की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि यह एकांकी होता है और इसमें दो अथवा चार संधियाँ होती हैं और वे विलासवती को ऐसी रचना मानते हैं जिसमें चार संधियाँ हैं। एक ही नाम की भिन्न भिन्न रचनाओं की कमी संस्कृत साहित्य में नहीं। उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि एक शतश्लोकी-दार्शनिक ग्रंथ है जो शंकराचार्य द्वारा प्रणीत है और दूसरा हेमाद्रि द्वारा विरचित औषध ग्रंथ। इसी तरह हम दो काव्यानुशासन भी पाते हैं— एक वाग्भट्ट रचित दूसरा हेमचंद्र लिखित। इसी तरह दो काव्यालंकार भी हैं जिनमें एक के रचयिता भामह हैं और दूसरे के रुद्रट। एक प्राकृत का काव्य 'लीलावती'[5] कौहल रचित बताया जाता है जब कि दूसरी 'लीलावती'[6] एक वीथि—संस्कृत नाटक है जिसके लेखक रामपाणि माने जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि साहित्यदर्पण में चर्चित विलासवती एक नाट्यरासक है जो मार्कंडेय के सट्टक विलासवती से भिन्न है।

मार्कंडेय के काल निर्धारण में मुकुंददेव सहायक हो सकते हैं। 'प्राकृत-

३. ग्रामेतीक, पृ० ४०।

४. एस० के० डे०—संस्कृत पोएटिक्स, जिल्द 1, पृ० २७६; पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १३३।

५. उषानिरुद्धम् संपा० सी० के० राजा, आड्यार लाइब्रेरी प्रकाशन, भूमिका पृ० १६।

६. लीलावती—सं० ए० एन० उपाध्ये, बंबई, स० २००५ वि०।

सर्वस्व में मार्कंडेय अपने को मार्कंडेय कवींद्र कहते हैं तथा अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति गाते हैं—

> श्रीमद्वीरमुकुन्ददेव नृपतौ दोःस्तम्भ कुम्भीनस-
> क्रीडाग्रस्त समस्त शात्रवकुल प्राणानिले धर्मतः।
> शासत्युत्कलमेदिनीं रघुपतौ साक्षादयोध्यामिव
> ग्रामे वीरवर प्रताप नृपतेः पूर्णो निबन्धो नवः ॥

स्पष्ट है कि प्राकृतसर्वस्वम् के रचयिता मार्कंडेय कवींद्र मुकुन्ददेव के शासनकाल में जीवित थे। मुकुंददेव की प्रशस्ति गाते हुए कवि ने लिखा है कि जिस तरह रघुपति ने अयोध्या पर राज्य किया उसी तरह मुकुंददेव ने उत्कल अथवा उड़ीसा पर राज्य किया। मुकुंददेव अपने शत्रुओं के नाश करनेवाले थे। साथ ही कवि ने यह भी लिखा है कि उसने यह पुस्तक वीरप्रतापपुर में लिखी। पुरी जिले के साक्षी-गोपाल रेलवे स्टेशन के समीप अब भी वीरप्रतापपुर नामक ग्राम अवस्थित है। पुरी के इर्द गिर्द के प्रसिद्ध शासनों में से वह एक प्रसिद्ध शासन है। शासन वे ग्राम हैं जिन्हें भिन्न भिन्न गजपति राजाओं ने भिन्न भिन्न समय में ब्राह्मणों को संमानित करने के हेतु दान दिए थे। निस्संदेह वीरप्रतापपुर वही गाँव है जो मार्कंडेय की जन्म तथा कर्म भूमि है। चूँकि वीरप्रतापपुर एक शासन है इसलिये मार्कंडेय के ब्राह्मण होने में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं। उन्होंने प्राकृतसर्वस्वम् में न तो अपना परिचय ही दिया है न अपनी जाति का उल्लेख किया है। अंत में केवल इतना लिखा है—इति श्री मार्कंडेय कवींद्रकृतौ प्राकृतसर्वस्वम्। मार्कंडेय यहाँ अपने को कवींद्र लिखते हैं जो संभवतः राजा द्वारा उन्हें दिया गया संमान है। उड़ीसा में गजपति राजा कवियों को संमान और दान देने के लिये विख्यात रहे हैं। विद्वानों को कई मुकुंददेवों ने घपले में डाल दिया। उड़ीसा में मुकुंददेव नाम के तीन तीन राजा हुए। अब हमें यह देखना है कि इनमें रघुपति की तरह शक्तिशाली और प्रतापी कौन हुआ, तभी मार्कंडेय का कालनिर्धारण संभव है। प्रथम मुकुंददेव सोलहवीं शताब्दी में, दूसरा सत्रहवीं शताब्दी में और तीसरा अठारहवीं शताब्दी में हुआ। पिशेल, ग्रियर्सन और ब्युलर प्रभृति विद्वानों ने मार्कंडेय को दूसरे मुकुंददेव का आश्रित मानने की भूल की है। परंतु इतिहास के किसी भी पाठक को इस तथ्य में तनिक भी संदेह नहीं होगा कि मार्कंडेय ने जिस मुकुंददेव की तुलना रघुपति से की है वह केवल इतिहास में आया एकमात्र प्रथम मुकुंददेव ही हो सकता है। इस मुकुंददेव का शासनकाल सन् १५५९-१५६८ माना जाता है।[७] इस मुकुंददेव का शासन उड़ीसा

७. डा० नवीनकुमार साहु - उड़ीसा का इतिहास, पृ० २१५, पादटिप्पणी।

में गौरवपूर्ण था। इसने हुगली में एक घाट और मंदिर बनवाया था जिसका नाम त्रिवेणीघाट है और आज भी हिंदुओं का विशेषतः उड़ीसावासियों का यह एक पवित्र स्थान माना जाता है।[८] इसी ने स्वर्णरेखा नदी से कुछ हटकर जलेश्वर से दस-बारह मील दूर रायबानिया नामक विशाल दुर्ग बनाया था जिसके अवशेष आज भी वर्तमान हैं।[९] यह उड़ीसा का अंतिम स्वतंत्र सम्राट् था जिसने कटक के प्रसिद्ध बारबाटी किले का पुनर्निर्माण किया था। अकबर ने इसके साथ राजनैतिक संबंध स्थापित किया था और हसनखाँ खजांची को अपना दूत बनाकर भेजा था जिसके बदले में मुकुंददेव ने परमानंदराय को अपना दूत बनाकर भेजा था।[१०] दूसरे और तीसरे मुकुंददेव केवल खुरदा के राजे थे जिनमें दूसरा शाहजहाँ तथा औरंगजेब के अधीन था। वह सन् १६५५ ई० में गद्दी पर बैठा और खुरदा उसकी राजधानी थी। तीसरे की हस्ती एक जमींदार से अधिक नहीं थी और वह पुरी के राजा के नाम से इतिहास में जाना जाता है। यह सन् १७९६ में गद्दी पर बैठा और मुकुंददेव द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध रहा।[११] इस तरह हम देखते हैं कि जिस वीर, यशस्वी और पराक्रमी राजा की प्रशंसा प्राकृतसर्वस्वम् के उपर्युक्त उद्धरण में की गई है, वह अवश्यमेव स्वतंत्र उत्कल नरेश मुकुंददेव है न कि खुरदा का मुगलाधीन राजा अथवा पुरी का नाम मात्र का राजा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृतसर्वस्वम् की रचना मुकुंददेव के शासनकाल अर्थात् सन् १५५९ और १५६८ ई० के बीच हुई। इस तरह हम देखते हैं कि स्टर्लिंग, ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने मार्कंडेय को भोई वंशीय दूसरे मुकुंददेव का समकालीन मानते हुए यह लिखा कि रामशर्मण तथा मार्कंडेय संभवतः सत्रहवीं शताब्दी में हुए। यह स्थापना युक्तिसंगत नहीं है। मार्कंडेय ने वस्तुतः मुकुंददेव (सन् १५५९-६८) के काल में प्राकृतसर्वस्वम् की रचना की।

यहाँ हम तत्कालीन उड़ीसा के इतिहास पर भी विहंगम दृष्टिपात करते चलें ताकि आगे चलकर दशग्रीववध महाकाव्य के कवि के बारे में पूरी जानकारी मिल सके। मुकुंददेव श्रीचंदन का, जो गजपति मुकुंददेव के नाम से विख्यात है, उड़ीसा के राजनीतिक आकाश में उस समय आविर्भाव हुआ जिस समय उड़ीसा की राजनैतिक स्थिति डाँवाडोल थी। वह भोई वंश का सेनापति था जिसकी स्थापना गोविंद

८. डा० हरेकृष्ण महताब—उड़ीसा का इतिहास, पृ० १४।
९. जे० बीम्स—उड़ीसा के इतिहास में मुसलमान, मरहठा और अंगरेजों के अधीन उड़ीसा, डा० नवीनकुमार साहु द्वारा संपादित, जिल्द २ पृ० २१५।
१०. उड़ीसा का इतिहास, पृ० १४-१५।
११. वही, पृ० १४८-१४१।

विद्याधर ने की थी। विद्याधर गजपति प्रतापरुद्रदेव का सेनापति था। प्रताप-रुद्रदेव अंतिम स्वतंत्र सूर्यवंशी नरेश था। जिन तीन पराक्रमी सूर्यवंशी नरेशों की चर्चा दशग्रीववध महाकाव्य में आई है वे तीनों सूर्यवंशी नरेश थे और इन लोगों ने सन् १४३५ ई० से सन् १५३५ ई० तक शासन किया था। प्रताप रुद्रदेव की मृत्यु के बाद उसका सेनापति गोविंद विद्याधर उसके सभी पुत्रों को मारकर खुद सन् १५३४ ई० के आस पास राजा बन बैठा। वह भोई वंश का संस्थापक था जिसने २५ वर्षों तक राज्य किया। सन् १५५६ ई० में शक्ति संचय कर मुकुंददेव भोई वंश के अंतिम नरेश को गद्दी से हटाकर स्वयं शासक बना। वस्तुतः मुकुंददेव, जैसा कि पहले कहा जा चुका है उड़ीसा का अंतिम स्वतंत्र हिंदू सम्राट् था जिसने सन् १५६८ ई० तक शासन किया। वह अपने अधीनस्थ एक विद्रोही सामंत रामचंद्र भंज के द्वारा बालेश्वर के समीप युद्ध में मारा गया। मुकुंददेव के मारे जाने के बाद रामचंद्र ने खुरदा रियासत की स्थापना की और अकबर के द्वारा सन् १५९२ ई० में इसे मान्यता मिली। इसका भी वंश भोई वंश माना जाता है और रामचंद्र की परंपरा में छठा राजा मुकुंददेव हुआ जो सन् १६६४ ई० में गद्दी पर बैठा। स्टर्लिंग ने इसे ही प्राकृतसर्वस्वम् के रचयिता मार्कंडेय का आश्रयदाता मानने की भूल की है। एक और तीसरे मुकुंददेव भी हैं। इन्होंने भी खुरदा पर ही शासन किया। इनका समय सन् १७९५ ई० है। अंगरेजों के उड़ीसा जीतने के बाद ये अंतिम मुकुंददेव केवल पुरी राजा के नाम से जाने जाते हैं।[१२]

अब हम अंतःसाक्ष्य के द्वारा जाँच करें कि प्राकृतसर्वस्वम् का प्रणेता मार्कंडेय क्या केवल एक वैयाकरण था अथवा दशग्रीववध महाकाव्य का कवि भी? यहाँ हम देखेंगे कि दशग्रीववध और प्राकृतसर्वस्वम् का प्रणेता एक ही व्यक्ति है अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्ति; इसके बाद यह कि निर्धारित काल निकष पर खरा उतरता है कि नहीं।

सर्वप्रथम श्री केदारनाथ महापात्र ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। 'दशग्रीववध महाकाव्य' की दो पांडुलिपियाँ उड़ीसा स्टेट म्यूजियम, भुवनेश्वर में सुरक्षित हैं।[१३] इस महाकाव्य के रचयिता मार्कंडेय कविराज-चक्र चक्रवर्ती हैं। श्री महापात्र ने बीसवें अर्थात् अंतिम सर्ग के तीन पदों के साथ-साथ ग्रंथ की पुष्पिका भी उद्धृत की है।[१४]

१२. वही. पृ० १७०-८० ।

१३. राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस, कटक के द्वारा अप्रैल, १९५१ में प्रकाशित हो चुका है।

१४. दि उड़ीसा हिस्टोरिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५२, पृ० ३५ ।

भास्वत् वंशमणेर्वभूवकपिलश्रीणीपतेर्नन्दनो ।
वीरः श्री पुरुषोत्तमो गजपतिर्भाग्य भवोमूर्त्तिमत ॥
आकौमार दिनान्महाप्रियसुहृत्तस्याभवत् काश्यपः—
श्री मान्मंगलदेव इत्यत्तीमतो गोष्ठीपुविद्यावताम् ॥ ४७ ॥

श्री रुद्रेपुरुषोत्तमेन्द्रतनये प्रोद्दाममदोर्मण्डली—
क्रीड़ा खण्डित-शात्रवे वसुमतीमासागरं शासति
श्रीमान् मंगलदेव सूनुरमनागाराध्य वाग्वादिनीं
मार्कण्डेय कविस्तदेतनोत् काव्यं हरेः प्रीतये ॥ ४८ ॥

भोगाभोग मुरीकरोति धरणीं यावद्भुजंङ्गे शितु—
र्लोकालोकगिरिं प्रदक्षिणयते यावत्त्विषामीश्वरः
श्री रामस्य गुणाम्बुधेगुणलवेनारब्धमेतन्न वं
काव्यं मे विदधातु तावदसकृत् प्रीतिं प्रसन्नात्मनां । ४९ ॥

इति श्रीकाश्यपगोत्रसमुद्भव श्रीमन्मंगलदेव देहसम्भव मार्कण्डेयाभिध कविराज-चक्र-चक्रवर्त्ती विरचिते दशग्रीववधे महाकाव्ये श्रीरामस्वपुराभिषेको नामविंशतितमः सर्गः । शुभम् समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥

इन पंक्तियों के प्रकाश में आने के बाद ऐसी आशा का बंधना स्वाभाविक है कि यह महाकाव्य प्रसिद्ध वैयाकरण मार्कंडेय विरचित है । प्राकृतसर्वस्वम् के प्रणेता ने भी अपना परिचय देते हुए लिखा है—इति श्री मार्कंडेय कवीन्द्रकृतौ प्राकृतसर्वस्वम्'— तो क्या 'दशग्रीववध महाकाव्यम्' के कवि 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती मार्कंडेय' और 'प्राकृतसर्वस्वम्' के प्रणेता 'मार्कंडेय कवींद्र' एक ही व्यक्ति हैं ? यहाँ इसी का विवेचन अभीष्ट है । इससे पहले प्रश्न यह उठता है कि क्या वैयाकरण शास्त्रकार की श्रेणी में आता है ? क्या वह काव्यप्रतिभासंपन्न हो सकता है ? दूसरा प्रश्न है कवि शब्द का अभिधार्थ वर्णन करनेवाला होता है । तो क्या 'प्राकृतसर्वस्वम्' के प्रणेता कवि प्रतिभासंपन्न थे अथवा वर्णन करनेवाले थे, इसी लिये उन्हें कवींद्र कहा गया ? प्राकृतसर्वस्वम् के विश्लेषण-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रणेता में कवि-प्रतिभा थी क्योंकि प्राकृतसर्वस्वम् व्याकरण ग्रंथ है फिर भी संपूर्ण ग्रंथ छंदोबद्ध रूप में लिखा गया है; सूत्र एक दूसरे से गुंफित हैं और अधिकांश आर्या छंद में हैं—कहीं कहीं अनुष्टुप में इनकी परिणति हुई है। शायद इसका पद्यात्मक रूप कंठस्थ करने की सुविधा की दृष्टि से रखा गया है। संपूर्ण ग्रंथ पद्य में तथा केवल भाष्य गद्य में है। यहाँ तक कि गद्यपाठ भी श्लोक में लिखे गए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि सूत्रों को पद्य में सुव्यवस्थित ढंग से सजाने का सुंदर तरीका मार्कंडेय के कवि होने का असंदिग्ध प्रमाण है और केवल प्राकृत

सर्वस्वम् लिखनेवाले को कवींद्र की उपाधि मिली हो यह विश्वसनीय नहीं। अतः मार्कंडेय का कवि होना ध्रुव सत्य है। दशग्रीववध महाकाव्य और प्राकृतसर्वस्वम् के अतिरिक्त और भी रचनाएँ इन्होंने की होंगी।

मार्कंडेय ने प्राकृतसर्वस्वम् में केवल एक स्थान पर अपने 'विलासवती' सट्टक की चर्चा की है। पद १३१ की टिप्पणी करते हुए कवि ने विलासवती की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं -

पाणा अ गओ भमरो लभइ दुक्खं गइंदेसु
और **सुहाअ रज्जं किरहोइ रण्णो**

दुर्भाग्य की बात है कि विलासवती सट्टक अभी तक प्रकाश में नहीं आया अन्यथा प्राकृत साहित्य की एक अमूल्य रचना उपलब्ध होती। एक दूसरे स्थल पर मार्कंडेय ने एक संपूर्ण कविता अपनी किसी रचना से प्राकृत में उद्धृत की है और कृति का नाम देकर केवल 'इदं मम' लिख दिया है। यथा —

पढुमं जीविअ सरिच्छा तत्तो सुहघी तदो पुणो घरिणी।
चंडि त्ति भणसि पणिहं ण मुणमि कहि हुवेअ चामुंड।॥

इस सुंदर कविता में गृहिणी संभवतः अपने पति से हास-परिहास करती है। यह उसी विलासवती सट्टक से उद्धृत है अथवा किसी और पुस्तक से, कहा नहीं जा सकता। फिर भी इतना तो निश्चित है कि मार्कंडेय न केवल वैयाकरण था अपितु कवि भी था। इसके अलावा बहुत से स्थलों पर हम सुंदर प्राकृत गद्य के नमूने उद्धृत पाते हैं जहाँ लेखक उद्धरणों के मूल के बारे में कुछ नहीं लिखता। हो सकता है कि वे उद्धरण कवि की निजी रचना हों। बहुत से स्थलों पर वे केवल 'यथाऽह दण्डी', 'यथा वाक्पतिराजः' 'इति मम मत्याम' ही लिखकर छोड़ देते हैं। श्री केदारनाथ महापात्र ने ठीक ही यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि दशग्रीववध महाकाव्य और प्राकृतसर्वस्वम् के लेखक एक ही व्यक्ति हैं।[15]

दशग्रीववध महाकाव्य के बीसवें सर्ग के अंतिम तीन पद और ग्रंथ की समाप्ति पर लिखी उपर्युक्त पंक्तियों में हम देखते हैं कि मार्कंडेय पुरुषोत्तमदेव के बाल्यसखा मंगलदेव के आत्मज थे और काश्यपगोत्रोत्पन्न थे। कवि ने अपनी बहुत सी कृतियों की रचना प्रतापरुद्रदेव के शासनकाल में की। इस महाकाव्य के सिंहावलोकन से एक और बात का पता चलता है जिसके द्वारा हमें कविराज-चक्र-चक्रवर्ती और कवींद्र को एक व्यक्ति मानने में सुविधा है। कवि ने कविराज-चक्र-चक्रवर्ती शब्द का

१५. वही, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १६५४, पृ० ३५-३६।

प्रयोग केवल बीसवें सर्ग में ग्रंथ की समाप्ति पर किया है। इस ग्रंथ के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे सर्ग में कवि अपने को मार्कंडेय मिश्र लिखता है। बाकी पंद्रह में से चौदह सर्गों में वह अपने को मार्कंडेयदेव बतलाता है। अंतिम बीसवें सर्ग में केवल मार्कंडेय लिखता है और कविराज-चक्र-चक्रवर्ती उपाधि जोड़ देता है। प्राकृतसर्वस्वम् का लेखक भूमिका से लेकर अंत तक अपने को मार्कंडेय कवींद्र लिखता है।[16] यह असंभव नहीं कि कवि को उत्तरोत्तर ख्याति मिलती गई और दशग्रीववध का कविराज चक्र-चक्रवर्ती अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना प्राकृतसर्वस्वम् तक आते आते कवींद्ररूप से विख्यात हो गया। दशग्रीववध के कवि का कुलनाम मिश्र था और वह काश्यपगोत्रोत्पन्न ब्राह्मण था। आज भी उड़ीसा में काश्यप-गोत्रोत्पन्न मिश्र कुलनाम वाले ब्राह्मण पाए जाते हैं।

अभिनव वेणीसंहारम् नाटक (अभी भी अप्रकाशित पांडुलिपि उड़ीसा राज्य म्यूजियम, भुवनेश्वर में सुरक्षित) की खोज के बाद दशग्रीववध महाकाव्य के असली कवि के प्रति संदेह उत्पन्न हो गया है। इसके लेखक गजपतिदेव बतलाए गए हैं तथा इन्होंने अन्य चार ग्रंथों की भी रचना की है। यथा—गजपति श्री पुरुषोत्तमदेवेन महाराजेन विरचित आनंदविलास, दशग्रीववध, जानकीप्रमोद, कुवलयाश्व प्रभृति विविध रूपरूपक, सहोदरमभिनव वेणीसंहार नामक नाटक।[17] श्री केदारनाथ महापात्र ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि सूर्यवंशी राजाओं के काल में यह प्रचलन था कि कविगण अपने आश्रयदाताओं को ग्रंथों के लेखक लिख दिया करते थे। उन्होंने 'सरस्वतीविलास', 'प्रतापमार्तंड', 'भारतामृत महाकाव्यम्', 'अभिनव गीतगोविंदम्' प्रभृति पुस्तकों का हवाला देकर यह प्रमाणित किया है कि सूर्यवंशीकाल में आश्रयदाताओं का लेखक के रूप में उल्लेख कर दिया जाता था।[18]

अब इन सामग्रियों के आधार पर हम मार्कंडेय मिश्र और मार्कंडेय कवींद्र के समय का निर्धारण कर देखें कि क्या वे दो अलग अलग व्यक्ति हैं अथवा एक ही। इतिहास बतलाता है कि गजपति कपिलेंद्र के बाद उसका पुत्र पुरुषोत्तमदेव सन् १४६७ ई० में गद्दी पर बैठा और सन् १४९७ ई० तक उसने राज्य किया। सन्

१६. ग्रियर्सन ने श्री उमापति उपाध्याय के 'पारिजातहरण' की भूमिका में इसका नाम मार्कंडेय कवीश्वर रखा है।—जर्नल आव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग ३, मार्च १९१७, पृ० २१।

१७. उड़िया पत्रिका—प्राची, सन् १९३१, जिल्द १, पृ० ६।

१८. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० ३६-३८।

१४९७ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र प्रतापरुद्रदेव गद्दी पर बैठा और सन् १५४० तक उसने शासन किया।[१९] श्री महापात्र मार्कंडेय को पुरुषोत्तमदेव के राज्याभिषेक काल से लेकर मुकुंददेव के शासनकाल तक जीवित मानते हुए मार्कंडेय की आयु ९० वर्षों की बतलाते हैं (सन् १४७५ से १५६५ तक)। उन्होंने यह भी कहा है कि मार्कंडेय पुरुषोत्तमदेव और प्रतापरुद्रदेव दोनों के समसामयिक थे।[२०] उन्होंने यह भी दिखलाने की चेष्टा है कि वेणीसंहार में पुरुषोत्तमदेव ने दशग्रीववध महाकाव्य के जिस रचयिता का उल्लेख किया है वह अन्य कोई नहीं वरन् मार्कंडेय हैं। डा० कृष्णचंद्र आचार्य ने अपने शोधप्रबंध (अप्रकाशित) में श्री महापात्र से अपनी असहमति निम्नलिखित कारणों से की है—

क – दशग्रीव महाकाव्य के बीसवें सर्ग के ५७वें पद (ऊपर उद्धृत) में 'बभूव' शब्द का प्रयोग स्पष्ट बतला देता है कि लेखक के समय में पुरुषोत्तमदेव स्वर्ग सिधार चुके थे अथवा कवि ने पुरुषोत्तमदेव को अपने जीवनकाल में संभवतः शैशव में देखा हो। कवि ने केवल इतना ही कहा है कि पुरुषोत्तमदेव उसके पिता के बाल्यसखा थे। यह ख्यातव्य है कि कवि ने पुरुषोत्तमदेव के लिये 'बभूव' और अपने पिता के लिये 'अभवत' शब्द का प्रयोग किया है। उसके बादवाले पद संख्या ५८ से पता चलता है कि वह प्रताप रुद्रदेव के शासनकाल में हुआ। अतः मार्कंडेय के समय को सन् १४७५ ई० तक खींच ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं।

ख – कवि ने यह दावा किया है कि दशग्रीववध महाकाव्य की रचना उसने श्री रुद्रदेव के काल में की न कि पुरुषोत्तमदेव के काल में। २०वें सर्ग के ५८वें पद में प्रताप रुद्रदेव की कीर्त्ति का वर्णन बड़े ही जोरदार शब्दों में अतिशयोक्ति की सीमा छूलेने की हद तक किया है। संभवतः कवि इसी राजा का आश्रित था और इसलिये उसने अपने आश्रयदाता का गुणगान दरबारी ढंग से किया और अपना ग्रंथ अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्रदेव को समर्पित किया न कि पुरुषोत्तमदेव को जिसकी मृत्यु हो चुकी थी। अतः या तो हम पुरुषोत्तमदेव के दशग्रीववध महाकाव्य को एक अन्य रचना मानें अथवा दशग्रीववध को पुरुषोत्तमकालीन रचना मानें।

ग – पुरुषोत्तमदेव के दशग्रीववध को मार्कंडेय के दशग्रीवध से भिन्न रचना

१९. डा० नवीनकुमार साहु—उड़ीसा का इतिहास, जिल्द २, पृ० ३८३-३८८; डा० महताब – उड़ीसा का इतिहास।

२०. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० ३७–३९।

मानने के बहुत से कारण हैं। पुरुषोत्तमदेव ने अपने को 'विविध-रूप-रूपका' का लेखक माना है। रूपक शब्द का संस्कृत में उसी अर्थ में प्रयोग होता है जिस अर्थ में आज अंगरेजी का 'ड्रामा' शब्द प्रयुक्त होता है। इस तरह यह पंक्ति पुरुषोत्तमदेव[२१] के दशग्रीववध के रूपक होने का प्रमाण उपस्थित करती है और यह ठीक ही है क्योंकि 'अभिनव वेणीसंहार' नाटक के समकक्ष होने के कारण यह रूपक ही अधिक प्रतीत होता है। विविध-रूप रूपका का अर्थ नाना प्रकार के रूपक है और रूपक को हम महाकाव्य नहीं मान सकते।

अब प्रश्न उठता है कि 'रसगंगाधर' से जो उद्धरण 'प्राकृतसर्वस्वम्' में दिए गए हैं, क्या वे सचमुच रसगंगाधर के उद्धरण हैं?[२२] यदि हाँ, तो प्राकृतसर्वस्वम् रसगंगाधर के बाद की रचना होगी। परंतु रसगंगाधर का वह उद्धरण जगन्नाथ का अपना नहीं है। उसने स्वयं अपने पूर्ववर्ती ग्रंथ 'अलंकाररत्नाकर' से लिया है, जब वह इसके कर्ता शोभाकर की आलोचना करता है।[२३] रत्नाकार ने 'असम' अलंकार का उदाहरण देते हुए प्रस्तुत पद को उदाहरण स्वरूप लिखा है --

ढुंढुंल्लंती हि मरिहिसि कंटककलिआई केअइवणाइं।
मालइ कुसुम सरिच्छं भमर भमंतो ण पाविहिसि॥

यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है और मम्मट ने भी इसे अपने काव्यप्रकाश के अध्याय १०, ४०७ में उद्धृत किया है।[२४] अन्यान्य अनेक ग्रंथों में भी इसे उद्धृत किया गया है।[२५] अतः मार्कंडेय पर यह आरोप लगाना कि उसने इसे रसगंगाधर से उद्धृत किया है और मार्कंडेय को सत्रहवीं शताब्दी के बाद घसीट ले जाना उसके साथ ज्यादती होगी। संभवतः मार्कंडेय ने इसे अपने पूर्ववर्ती 'अलंकाररत्नाकर' अथवा 'काव्यप्रकाश' से लिया था। कहाँ से यह उद्धरण लिया गया है, इस विषय में लेखक कोई संकेत नहीं देता, इसी लिये यह खींचतान हुई। डा० श्रीकृष्णचंद्र आचार्य ने यह माना है कि यह उद्धरण काव्यप्रकाश से लिया गया है क्योंकि काव्यप्रकाश से और भी अनेक उद्धरण प्राकृतसर्वस्वम् में दिए गए हैं।[२६]

२१. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० २६६, साहित्यदर्पण, ६ २।
२२. प्राकृतसर्वस्वम्—श्री० स्वामी द्वारा संपादित, सन् १९२७ तथा निति दोलसा', उद्धरण पृ० १०४।
२३. रसगंगाधर काव्यमाला सीरीज, पृ० १६५।
२४. अलंकाररत्नाकर, सी० ई० देवधर द्वारा संपादित, पूना, १९४२।
२५. डा० कृष्णचंद्र आचार्य का शोधप्रबंध (अप्रकाशित), भूमिका, पृ० १२।
२६. वही।

अब अंतःसाक्ष्य के आधार पर हम यह देखें कि दशग्रीववध महाकाव्य और प्राकृतसर्वस्व एक ही व्यक्ति की रचना हैं अथवा अलग-अलग व्यक्तियों की। श्री महापात्र ने ठीक ही कहा है कि दशग्रीववध में वर्णित गजपति प्रतापरुद्रदेव और प्राकृतसर्वस्वम् में वर्णित मुकुंददेव के शौर्यवर्णन एवं यशगान में भाषासाम्य तो है ही अभिव्यक्ति भी एक जैसी है। शैली व्यक्ति की निजी विशेषता होती है और किन्हीं दो व्यक्तियों की शैली एक जैसी नहीं हो सकती। परीक्षण के लिये हम निम्नलिखित उद्धरणों को देखें—

प्रोद्दाम - दोमण्डली - क्रीडाखण्डित शात्रवे वसुमती -
मासागरं शासति श्री रुद्रे। (दशग्रीववध महाकाव्य)

× × × ×

दोः - स्तंभ - कुम्भीनस - क्रीड़ा - ग्रस्त समस्तशात्रवकुल—
प्राणानिले उत्कलमेदिनीं शासति श्रीमद्वीरमुकुन्ददेव नृपतौ।
(प्राकृतसर्वस्व)

× × × ×

यदर्थमत्यन्त परिश्रमेण वाग्वादिनी त्वं गमिता प्रसादम्।
गानाय तस्मै रघुनाथकीर्त्तेमतिर्मदीये हृदि सन्निधेहि॥
(दशग्रीववध महाकाव्य)

× × × ×

यत्कान्तिपीयूषरसप्रवाहा निध्यायता चेतसि संप्रविष्य।
त्वहिर्महाकाव्यतया स्फुरन्ति वाग्देवता सा मयि सन्निधत्ताम्॥
(प्राकृतसर्वस्व)

तथा प्राकृत सर्वस्व में ही 'मम केचिदस्तु हृदि वस्तु संततम्।'

दशग्रीववध के बीसवें सर्ग के ५७वें श्लोक में वीर शब्द श्री पुरुषोत्तम का विशेषण बनकर आया है और प्राकृतसर्वस्व में मुकुंददेव का। ५६वें पद में 'नव' शब्द कविता का विशेषण है और प्राकृतसर्वस्व में भी 'नवनिबंध' का प्रयोग हुआ है। ऊपर के उद्धरणों में प्राकृतसर्वस्व के 'स्फुरंति वाग्देवता' और 'सन्निधत्ताम्' दशग्रीववध महाकाव्य के 'यदर्थ वाग्वादिनी' और 'सन्निधेहि' एक जैसे हैं। बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है कि इन पंक्तियों और इन एक जैसे शब्दों का प्रयोक्ता एक ही व्यक्ति हो सकता है अन्यथा शब्दों और रचनाप्रक्रिया में ऐसा साम्य नहीं हो पाता। प्राकृतसर्वस्व के मंगलाचरण में 'वाग्देवता' सरस्वती के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग दशग्रीववध में भी मिलता है—

भेद प्रभिन्नांल्लिपिसंप्रदायान्
आदिश्यमनेषु नृपात्मजेषु ।
वाग्देवता वर्णमयी तदानीं
स्वयंग्रहे तत्स्थितिमाचकांक्ष ॥
(सर्ग ३, पद ३७)

× × × ×

स्वयं हि लक्ष्मी जनकेन्द्रनन्दिनी
विभूषिता यौवनसंपदा नतः ।
ततो विवादांचितवेशपेशला
कथं नु वाग्देवतयाऽपि वर्ण्यते ॥
(सर्ग ८, पद २६)

रचना के अर्थ में आ + रभ् धातु का प्रयोग दोनों ग्रंथों में ध्यातव्य है। यथा–

रघूद्वहस्तोत्रकथां विहाय
ये काव्यमन्या समारभन्ते ।
(दशग्रीववध सर्ग १, पद ३)

× × × ×

मार्कण्डेय कवीन्द्रः प्राकृतसर्वस्वमारभते ।
(प्राकृतसर्वस्व की भूमिका)

इन दो रचनाओं के निरीक्षण से यह द्रष्टव्य है कि दोनों रचनाओं में सरस्वती की स्तुति की गई है और दोनों ग्रंथों का प्रारंभ 'यत्' शब्द से हुआ है। दोनों ग्रंथों में सरस्वती के लिये 'वाक्' शब्द का प्रयोग हुआ है। और तो और दोनों श्लोकों का प्रारंभ भी एक ही शब्द से हुआ है और अंत भी एक ही शब्द से हुआ है। यहाँ तक कि पद भी 'उपजाति' छंद से आरंभ कर 'शार्दूलविक्रीडित' में समाप्त किए गए हैं। दोनों रचनाओं से यह भी पता चलता है कि कवि राम का भक्त है। रघुनाथकीर्ति और मुकुंददेव की तुलना रघुपति से करने के मूल में कवि के हृदय में स्थित राम की भक्तिभावना का उमड़ पड़ना ही निहित है। एक नहीं अनेक स्थलों पर रचनाओं में इस तरह का साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता। अतएव दोनों ग्रंथों के लेखक मार्कंडेय कवींद्र ही हैं। कुलनाम और उपनाम के बारे में कहा जा सकता है कि प्रारंभ में प्रायः कवि अपना पूरा नाम, कुलनाम और उपनाम के साथ लिखते हैं और धीरे धीरे अपने छोटे नाम को ही रखते हैं, बाकी का हटाकर।

अतएव मार्कंडेय भी शुरू शुरू में मार्कंडेय मिश्र लिखते होंगे। ज्यों-ज्यों इनकी कवि रूप में प्रसिद्धि बढ़ती गई होगी 'देव' अथवा 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' की उपाधि से क्रमशः विभूषित किए गए होंगे और जब प्रसिद्धि आकाश चूमने लगी होगी तब कवींद्र कहलाने होंगे। दशग्रीववध तक ये 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' ही रहे और अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना प्राकृतसर्वस्व में ये 'कवींद्र' हुए। 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' से 'कवींद्र' निस्संदेह महत्तर उपाधि है। मार्कंडेय और मार्कंडेय मिश्र का ब्राह्मण होना तो निर्विवाद है ही और पुरी निकटस्थ वीरप्रतापपुर शासन में रहना भी सिद्ध करता है कि ये दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति हैं। अब इनकी कृतियों पर जरा सरसरी निगाह डालें। दशग्रीववध, विलासवती सट्टक और प्राकृतसर्वस्व के ये रचयिता हैं। हो सकता है कि इन्होंने और भी रचनाएँ की हों, परंतु ऐसी रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आईं। हाँ, श्री महापात्र ने केशव-कोइली को इनकी रचना माना है। उड़िशा में 'केशव-कोइली' उर्फ 'यशोदा कोइली' एक प्रकार की कविता परिपाटी है। यह एक प्रकार का करुणगीत या उद्बोधन है जिसमें माता यशोदा अपने मनोभावों को कोयल के सामने खोलती है और प्रत्येक पद में 'हे कोइली!' ऐसा संबोधन करती है। मेघदूत की परंपरा में उड़िया में यह आदि दूत काव्य माना जाता है। श्री केदारनाथ महापात्र ने इस 'कोइली' को मार्कंडेय की रचना माना है।[२६] डा० कृष्णचंद्र के मतानुसार यह श्री महापात्र का दूर की कौड़ी लाने का प्रयास मात्र है। कोइली के कवि मार्कंडेयदास हैं, यह अब प्रमाणित हो चुका है। इस पर कोई विवाद नहीं।

मार्कंडेय के कवित्व का प्रमाण हमें और भी मिलता है। ये केवल वैयाकरण ही नहीं बल्कि उच्चकोटि के कवि भी थे। 'अनुप्रास' और 'यमक' के समन्वय से निम्नलिखित पंक्तियों में शिव और विष्णु की स्तुति काव्यकला की दृष्टि से एक आदर्श नमूना है—

> शशिखण्डमौलि सशिखण्डमौलि वा
> सितमेघचारु शितिमेघचारु वा।
> उमयाविलासि रमयाविलासि वा
> मम किंचिदस्तु हृदि वस्तु संततम्॥

प्राकृतसर्वस्व जैसे व्याकरण ग्रंथ में भी मार्कंडेय की कविता अंगूठी के हीरे की तरह जगर मगर करती चलती है।

२६. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५७, पृ० ३१।

जैसा कि विवेचन किया गया, प्राकृत सर्वस्व की रचना मुकुंददेव के शासनकाल में हुई अर्थात् सन् १५६० और १५६५ ई० के बीच और दशग्रीववध महाकाव्य की रचना उससे पहले प्रतापरुद्रदेव के शासनकाल में हुई। प्रताप रुद्रदेव सन् १४९७ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए थे। कवि ने प्रतापरुद्रदेव के पिता पुरुषोत्तमदेव के लिये 'लिट्' का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है कि उसने पुरुषोत्तमदेव को नहीं देखा था अथवा अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि शैशवकाल में कवि ने पुरुषोत्तमदेव को देखा होगा। इस तरह दशग्रीववध महाकाव्य का रचनाकाल सन् १५२५ ई० आस-पास और कवि का जन्म सन् १४९० ई० के लगभग मानना युक्तिसंगत होगा। दशग्रीववध महाकाव्य की रचना के समय कवि की उम्र प्रायः ३५ वर्ष की रही होगी। ऐसी रचना इसी उम्र में की जा सकती है। श्री केदारनाथ महापात्र कवि का काल सन् १४७५ ई० से सन् १५६५ ई० तक मानते हैं जो ऐसा लगता है कि तार्किक खींचतान के कारण असलियत से दूर चला गया है। यदि श्रीमहापात्र की बात मान ली जाय तो प्राकृतसर्वस्व की रचना के समय लेखक की उम्र ८५–८७ वर्ष ठहरती है और इस उम्र में प्राकृतसर्वस्व जैसा प्रौढ़ ग्रंथ लिखना कुछ जँचता नहीं। अतएव मार्कंडेय का समय सन् १४९० ई० से १५६२–६५ ई० तक मानना सब दृष्टियों से उपयुक्त लगता है।

इन सारी विवेचनाओं के बाद हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मार्कंडेय का समय सन् १४९० से सन् १५६२–६५ के आसपास था। इन्होंने दशग्रीववध महाकाव्य, विलासवती सट्टक और प्राकृतसर्वस्व की रचना की। ये काश्यपगोत्रोत्पन्न ब्राह्मण थे और वीरप्रतापपुर शासन के निवासी थे। इनके पिता का नाम मंगलदेव था जो पुरुषोत्तमदेव के बाल्यसखा थे। वे स्वयं प्रतापरुद्रदेव और मुकुन्ददेव के समसामयिक और आश्रित थे। ये 'कविराज-चक्र चक्रवर्ती' और 'कवींद्र' उपाधियों से संमानित किए गए थे।

*

अभिनवगुप्त की रससूत्रव्याख्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि

रामलखन शुक्ल

अभिनवगुप्त अद्वैत शैव दार्शनिक थे और उन्होंने रस की अभिव्यक्ति के सिद्धांत को उसी दर्शन के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। अतः अभिनवगुप्त के रस सिद्धांत को समझने के लिये इस दर्शन के मूलभूत तत्वों को समझ लेना सुतरां अपेक्षित है। शैव दर्शन के अनुसार प्रलय को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में परमशिव का विश्वमय रूप ही रहता है जो प्रकाश-विमर्शमय है। वेदांत के ब्रह्म के सदृश परम शिव शुद्ध चित् स्वरूप ही नहीं है, प्रत्युत चित्स्वरूप के साथ विमर्श-स्वरूप भी हैं। वेदांत के ब्रह्म के समान परम शिव निष्क्रिय नहीं है, वरन् सक्रिय हैं और उनमें ही सृष्टि के सभी उपादान सृष्टि से पहले उसी रूप में विद्यमान रहते हैं जिस रूप में कोई योगी जिस सृष्टि की रचना करना चाहता है, वह रचना से पहले ही उसमें विद्यमान रहती है अथवा जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति की जागृत अवस्था में स्वप्न के सभी चित्र विद्यमान रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति परम शिव से ही होती है जो पहले से उनमें निहित रहते हैं। रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में भी यही सिद्धांत चरितार्थ होता है। प्राक्तन संस्कारों की ही समुचित उपादानों के सहयोग से रस रूप में अभिव्यक्ति होती है। परमशिव जहाँ एक ओर निर्विकल्प माने जाते हैं, वहीं समस्त सृष्टि की रचना भी उनकी विमर्श शक्ति से मानी जाती है और सृष्टि के समस्त उपादान भी उन्हीं में माने जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शैव दर्शन के परम शिव वेदांत के ब्रह्म के सदृश शुद्ध अद्वैत के प्रतीक नहीं हैं, अपितु वे एकत्व और अनेकत्व दोनों के प्रतीक हैं, तथापि सविकल्प नहीं हैं। वे अपने आप में पूर्ण हैं और समस्त आभासों की अभिव्यक्ति के बावजूद उनकी पूर्णता में कोई अंतर नहीं पड़ता।[1] परम शिव में जो अनेकता निहित है वह उनकी स्वातंत्र्य शक्ति पर निर्भर है। परम शिव की इसी स्वातंत्र्य शक्ति को स्फुरत्ता, स्पंद, महासत्ता, चैतन्य आदि नामों से अभिहित किया जाता है। शैव विमर्श की अवस्था को परावाक् के समकक्ष रखते हैं जो सभी

१. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

प्रकार के विकल्प के परे है। यही कारण है कि परम शिव को सविकल्प नहीं माना जाता। परम शिव को प्रकाश - विमर्श-मय मानने के कारण मानों शैव दार्शनिक द्वैत भूमि का स्पर्श करने लगते हैं, किंतु ऐसा नहीं है। वस्तुतः प्रकाश और विमर्श एक दूसरे से उसी प्रकार पृथक् नहीं किए जा सकते, जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला और उसकी प्रज्वलित होने की क्रिया को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शिव (प्रकाश), शक्ति (विमर्श) के बिना नहीं रह सकता। इसीलिये मूर्तिकला मे अर्द्धनारी नटेश्वर (अर्द्धनारीश्वर) की कल्पना की गई है।

परम शिव के इस प्रकाश-विमर्श-मय रूप को अभिनवगुप्त ने मानव मस्तिष्क के सादृश्य पर प्रतिष्ठित किया है। मानव मस्तिष्क बाह्य पदार्थों के बिंब ग्रहण करता है, उनसे प्रभावित होता है और साथ ही पूर्वानुभूतियों के संस्कारों का भी प्रभाव उस पर पड़ता है। मस्तिष्क पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव उसी रूप में पड़ता है जिस रूप मे किसी दर्पण पर किसी वस्तु का बिंब पड़ता है। दर्पण पर बिंब पड़ने के लिये बाहर प्रकाश की सत्ता आवश्यक है, क्योंकि अंधकार मे किसी भी पदार्थ का बिंब दर्पण पर नहीं पड़ सकता किंतु मस्तिष्क स्वयं प्रकाशमान है अतः उसे बिंब ग्रहण करने के लिये बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मस्तिष्क वस्तुओं के ग्रहण, संश्लेषण आदि क्रियाओं में स्वतंत्र होता है और इन क्रियाओं को स्मृति आदि संस्कार रूप में कायम रखता है तथा यथावसर स्मरण रूप में प्रकट भी करता है। कल्पना मानव मस्तिष्क की एक अत्यंत महत्वपूर्ण क्रिया है। इसकी शक्ति को आधार मानकर वह बहुत दूरी तक विचरण कर पाता है और बहुत ऊँचाई तक उड़ान भी भर लेता है। इन समस्त क्रियाओं के मूल में मस्तिष्क की विमर्श अवस्था काम करती है और अपनी इसी अवस्था के कारण मानव मस्तिष्क मणि आदि प्रकाशमान पदार्थों से सर्वथा पृथक् और विशेष सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें जड़ता के स्थान पर चेतना है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मस्तिष्क स्वयं प्रकाशमान और चित्स्वरूप है। वह बिना किसी की सहायता के, स्वतंत्ररूप से प्रकाशित भी होता है और यह भी जानता है कि वह इस प्रकार क्यों प्रकाशित होता है। मानव मस्तिष्क जिस प्रकाश-विमर्श-मय अवस्था का प्रतीक है वही प्रकाश-विमर्श-मय अवस्था विश्वमय परमशिव की भी है।[२] अद्वैत शैव दर्शन सूक्ष्म अद्वैत न होकर स्थूल अद्वैत है। इसी कारण इसमे अनेकता में एकता और एकता में अनेकता देखी जा सकती है, जब कि वेदांतियों के शुद्ध अद्वैत में

२. हिज कंसेप्शन आव द युनिवर्सल, द एब्सोल्यूट, इज देयरफोर, बेस्ड अपौन द एनालिसिस आव् ह्यूमन माइंड।—इंडियन ईस्थेटिक्स, पृ० ८१।

ऐसा नहीं पाया जाता और यही कारण है कि शैव दार्शनिक अनेकता में एकता और एकता में अनेकता के सिद्धांत के आधार पर सृष्टि-रचना-प्रणाली को समझाने में सफल हुए हैं।

परम शिव में ही सृष्टि के समस्त उपादान पहले से ही निहित हैं, इसे सिद्ध करने के लिये शैव दार्शनिक 'मयूरांड-रस-न्याय' का सहारा ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार मयूर के सभी रंग समन्वित रूप में मयूर के अंडे की जर्दी में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार दृश्यमान् जगत् के सभी उपादान समन्वित रूप में परम शिव में विद्यमान रहते हैं। परम शिव स्वेच्छा से सृष्टि का विस्तार करते हैं। ऐसा करने के लिये उन्हें न तो किसी बाह्य सत्ता के साहाय्य की आवश्यकता पड़ती है और न तो किसी प्रकार की प्ररोचना ही आवश्यक होती है। यह परम शिव का स्वभाव ही है। समस्त सृष्टि एवं शैव दर्शन में स्वीकृत सभी तत्व परम शिव के आभास हैं। ये सभी उसी रूप में सत्य हैं जिस रूप में स्वयं परम शिव। इन्हें आभास इसलिये कहा जाता है कि इनमें किसी न किसी रूप में अपूर्णता रहती ही है। इन समस्त आभासों में सर्वप्रथम स्थान है शिवतत्व का। शिव उत्तम तत्व है इसमें परम शिव का प्रकाशस्वरूप ही ही व्यक्त होता है। शिवतत्व 'अहम्' का बोधक है। पहले कहा जा चुका है कि शिव और शक्ति एक-दूसरे से पृथक नहीं रह सकते, दोनों एक दूसरे से संपृक्त हैं; किंतु शिव तत्व में 'विमर्श' अव्यक्त रहता है, केवल प्रकाश ही व्यक्त होता है। प्रकाश की अभिव्यक्ति के लिये विमर्श अपेक्षणीय है, क्योंकि विमर्श के बिना चेतना का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। इसलिये शिवतत्व के पश्चात् दूसरा तत्व शक्ति (विमर्श स्वरूप) स्वीकार किया जाता है जो चिन्मय और आनंदमय है। अभिनव गुप्त ने रसानुभूति को विमर्श की अवस्था में रखा है।

अभिनवगुप्त रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव को रस मानते हैं[३] और सकल विघ्न विनिर्मुक्त संवित्ति को चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रांति आदि नामों से अभिहित करते हैं।[४] इसी निर्विघ्न संवित्ति को जो अतृप्ति से भिन्न होती है, भोगावेश भी कहा जाता है और रस के भोग करने वाले के अद्भुत भोगात्मक स्पंद से आविष्ट मन का चमत्कृत हो जाना चमत्कार कहा जाता है।[५] अभिनवगुप्त के दर्शन में चमत्कार, स्पंद, भोग और विश्रांति का विशेष महत्व है। उत्पलाचार्य ने परमशिव के स्वभाव का वर्णन करते समय विमर्श के

३. अभिनव भारती, पृ० ४७३।
४. वही, पृ० ४७३।
५. वही, पृ० ४७२।

स्थान पर चमत्कृति का प्रयोग किया है।[६] शिव चमत्कृति के बिना मात्र प्रकाशमय होने पर स्फटिक, मणि आदि जड़ पदार्थों के सदृश हो जाएँगे। अतः चमत्कृति अनिवार्य अंग ही नहीं, प्रत्युत उनका स्वभाव है। प्रमाता भी विमर्श (चमत्कृति) के उदय पर ही इस प्रकार अनुभव कर पाता है कि मैं प्रकाशात्मा हूँ तथा वह अपनी संवित् को अनुभूत कर आत्म-विश्रांति प्राप्त करता है। निर्विमर्श की अवस्था जड़ की अवस्था है। शैव दर्शन में जहाँ चमत्कृति विमर्श का द्योतन कराती है वही लोक-सामान्य स्थिति में चमत्कृति आनंद का समानार्थी हो जाती है। अभिनवगुप्त ने आनंद को तीन रूपों में व्याख्यायित किया है जिन्हें उन्होंने विषयानंद, काव्यानंद तथा परमानंद नामों से अभिहित किया है। उनके अनुसार आत्मा के स्वरूप के परामर्शमय निज स्वभाव के परिपूर्ण प्रकाशन को आनंद कहते हैं।[७] विषयानंद की कोटि में वह आनंद आता है जिसमें स्थूल धरातल पर आत्म परामर्श का अवसर प्राप्त होता है। जैसे, यदि किसी क्षुधार्त व्यक्ति को रोटी मिल जाए तो क्षुधा तृप्ति के कारण उसे क्षणिक आत्म-परामर्श का अवसर मिलता है। अतः उसे आनंद का अंश मिलता ही है, किंतु यह स्थायी नहीं होता; क्योंकि उसकी आकांक्षा निरंतर बढ़ती ही रहेगी। क्षुधा-तृप्ति के अनंतर किसी सुंदर नारी को आलिंगित करने की उसकी आकांक्षा बलवती हो उठेगी, अथवा कोई अन्य प्रकार की आकांक्षा जाग्रत हो जाएगी। इस कारण उसे जो आनंद प्राप्त होगा, वह क्षणिक ही होगा। समस्त वैषयिक आनंद में उसी प्रकार का अस्थायित्व रहेगा।

दूसरे प्रकार का आनंद काव्यानंद होता है। यह आनंद वैषयिक आनंद से विलक्षण होता है। इस प्रकार के आनंद की प्राप्ति में विघ्न अपसरित हो जाते हैं। इस कारण इस आनंद को रसना, चर्वणा, निर्वृति, प्रतीति, प्रमातृत्व, विश्रांति आदि कहते हैं। हृदय परामर्श की प्रधानता के कारण और व्यवस्थित वेद्य-विश्रांत-प्रकाश-भाग के गौण होने के कारण इसे सहृदयता भी कहते हैं। निर्विघ्न, आस्वादात्मक रसना चित्तवृत्तियों के द्वारा ही अनुभूयमान होती है। हृदय पक्ष की प्रधानता के कारण काव्यानंद को परमानंद के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

६. बृहती विमर्शिनी (पांडुलिपि) पृष्ठ ४०७ (१-५-११)।

—इंडियन ईस्थेटिक्स, पृष्ठ ६४।

७. 'स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्ण निज स्वभाव प्रकाशनमेव परामर्शमयतो यथदानन्द इत्युच्यते।'—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भा०, पृ०१७७।

स्वतंत्र (चित्) का एक घन रूप में परामर्श होने के कारण संवेदनरूप रसना ही को परमानंद कहते हैं। उसे ही निर्वृत्ति और चमत्कार भी कहते हैं। मधुरादि रसों के आस्वाद में विषयस्पर्श का व्यवधान बना ही रहता है, काव्य-नाट्य आदि में विषयस्पर्श का व्यवधान तो नहीं रहता, किंतु उसमें भी संस्कारों के अनुरोध का व्यवधान होता ही है। परमानंद में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। संवेदनरूप, स्वात्म परामर्श ही परमानंद कहा जा सकता है।[८]

स्वात्मपरामर्श से उत्पन्न आनंद और कुछ नहीं, चमत्कार है। यह चमत्कार विमर्श का ही रूप है जिसकी अवस्थिति प्रकाश पर अवलंबित होती है। अभिनवगुप्त ने अपने इसी दार्शनिक सिद्धांत के आधार पर रस को प्रकाशमय, आनंदमय और चमत्कार सिद्ध किया है। जब वे रसना को स्पंद कहते हैं, उस समय स्पंद से उनका तात्पर्य है स्व- स्वभाव परामर्श-रूप परम शिव के धर्म का जिसे शक्ति नाम से अभिहित किया जाता है, स्पंदन (चलन)।[९] परम शिव की स्वातंत्र्य शक्ति ही उनका स्वभाव है। परम शिव की इच्छा मात्र से शिवतत्व का उदय होता है। शिवतत्व प्रकाशस्वरूप होता है, किंतु यह अकेले रह नहीं सकता। इस कारण विमर्शरूप शक्तितत्व उससे संबद्ध रहता है। यही परम शिव के स्वभाव का परामर्श है, क्योंकि यह चित्स्वरूपिणी होती है। इसके बिना शिव प्रकाशमान स्फटिक आदि के सदृश जड़ हो जाय। स्पंद और कुछ नहीं है, वह मात्र शक्ति का स्पंदन है, अर्थात् विमर्श का उदय है। विमर्श को ही चमत्कृति भी कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विमर्श, चमत्कृति और स्पंद प्रायः एक ही भाव का द्योतन कराते हैं।

विश्वमय परम शिव का माया की सत्ता में आभास पुरुषतत्व नाम से ज्ञात है। परम शिव की शुद्ध सत्ता (स्फुरता) प्रकाश-विमर्श-रूपा होने के कारण क्रिया शक्ति कही जाती है और स्वात्म विश्रांति रूप होने के कारण यही आनंदशक्ति है। किंतु माया की सत्ता में आने के कारण प्रकाशविमर्श की अवस्था भिन्न हो जाती है। प्रकाशात्मक सीमित सत्ता के कारण सत्व गुण का उद्रेक होता है, जिससे पुरुष सुख का अनुभव करता है। प्रकाश विहीन सत्ता में तम का उद्रेक होता है जो प्रलय-स्थानीय (मोहात्मक) होता है और प्रकाश तथा अप्रकाश का दृश्यात्मक रूप रज के

८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भा० २, पृ० १७८-६।

९. स्वस्वभाव परामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यतात्यतिरेचन कारणभूतस्य तावन्मात्रसंरम्भात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य धर्मस्य किंचिच्चलनात् स्पन्द इति।
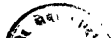
उद्रेक में सहायक होता है, जो दुःखात्मक होता है।[10] पुरुष स्व-स्वरूप के परिज्ञान के अभाव के कारण ममत्व, परत्व की कल्पना करने लगता है और अपने जीवन में सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक भोग का अनुभव करता है।[11] पुरुष का जो भोग माया की सत्ता में होता है वह सुख दुःख मोहात्मक ही होता है; क्योंकि परम शिव की प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता संकुचित होकर ही पुरुष में आभासित होती है। किंतु अभिनवगुप्त ने रसभोग की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। उन्होंने उसे प्रकाश-आनंदमय चमत्कार और स्पंद के रूप में स्वीकार किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रसभोग विमर्श की ही अवस्था पर होता है। अस्तु वह चिन्मय और आनंददायक होता है, परंतु रसभोग में वासना-संवाद और हृदय-परामर्श अपेक्षित होता है। इस कारण रसभोग में संस्कारों का अनुवेध किंचिदंशों में बना रह सकता है। अतः रसभोग पूर्णतः परम भोग (परमानंद) का रूप नहीं धारण कर सकता। यही कारण है कि अभिनवगुप्त ने काव्यानंद को आनंद की मध्यम कोटि में रखा है। तथापि अभिनवगुप्त की यह मान्यता है कि जो प्रमाता स्व संवेदन को अत्यधिक विकसित बना सकता है, वह रसभोग की अवस्था में स्वात्म-परामर्श से पूर्णतया अंतरायशून्य आनंद का भोग कर सकता है, जिसमें किसी बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती। नाट्य सामग्री उसकी संस्कारजन्य वासना को उद्‌बुद्ध करने के लिये पर्याप्त होगी और वासना के उद्‌बुद्ध हो जाने पर वह निरंतर निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्य भाव का अनुभव कर सकता है, जो चिन्मय और आनंदमय होता है, किंतु सभी प्रमाताओं के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। भोग हृदय-परामर्श तथा स्वात्म-विश्रांति पर अवलंबित है। अतः भोग भी आनंद, चमत्कार, स्पंद आदि का समानार्थी सिद्ध हुआ। रसना को चिन्मय, प्रकाशमय, आनंदमय, भोग आदि मानने से यह प्रकट होता है कि विमर्श की ही अवस्था पर रसनाव्यापार सिद्ध होता है।

परम शिव की स्वातंत्र्यशक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे परम शिव की चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ शुद्ध आभास का रूप धारण कर लेती हैं। इन आभासों के प्रकट होने के कारण परम शिव की पूर्णता में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता। यह सब परम शिव की निषेध-व्यापार-रूपा शक्ति का ही व्यापार है जिसे स्फुरता या महासत्ता कहते हैं। यह शक्ति परम शिव की इच्छाशक्ति है। चित् से प्रभावित परमशिव का जो प्रथम आभास प्रकट होता है उसे शिवतत्व कहते हैं। वह चिन्मय और प्रकाशस्वरूप होता है। वह

१०. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भा० २, पृ० २५४–५५।
११. वही, भा० २, पृ० २५३।

'अनन्योन्मुखः अहंप्रत्ययः' हैं। परंतु प्रकाशस्वरूप चिन्मय शिवतत्व का विमर्श के बिना कोई महत्व नहीं। विमर्श स्वरूपिणी शक्ति शिव से संबद्ध ही रहती है। शक्तिविहीन जिस शिवतत्व की कल्पना की जाती है, उसमें 'अहम्' अप्रकट अवस्था में रहता है और वही अहम् शक्तितत्व में आकर प्रकट रूप में आभासित हो उठता है। प्रकाश-विमर्श-मय शिव-शक्ति-तत्व वस्तुतः परम शिव से पृथक् नहीं किए जा सकते। यही कारण है कि कुछ दार्शनिकों ने उन्हें पृथक् आभास के रूप में स्वीकार नहीं किया है। शक्तितत्व परमशिव की इच्छाशक्ति ही है, जो निषेध-व्यापार-रूपा है। यह बीज रूप में स्थित रहती है और जीवन क्रिया को नियंत्रित तथा संयमित रखती है। इसमें आनंद की प्रधानता होती है। अतः यह स्वात्म-विश्रांतिरूपा है। इच्छाशक्ति से प्रभावित तीसरा आभास होता है जिसे सदाशिव तत्व कहते हैं। इसमें 'अहमस्मि' का भाव प्रकट होता है। इससे 'अहमस्मि' (मैं हूँ), इतने का ही बोध होता है। 'अहमिदमस्मि' (मैं यह हूँ), इसका स्पष्ट बोध नहीं होता। ज्ञानशक्ति से प्रभावित चौथा तत्व ईश्वर तत्व है, जिससे 'इदमहमस्मि' (यह मैं हूँ) का बोध होता है। इसमें 'मैं' और 'यह' दोनों समानाधिकरण रूप में आते हैं। 'यह मैं हूँ' इससे ऐश्वर्य का बोध होता है। क्रिया से प्रभावित पाँचवाँ आभास सद्विद्या तत्व है, जिसमें 'अहमिदमस्मि' (मैं यह हूँ) का बोध होता है। इसमें 'इदम्' अंश गौण पड़ जाता है और 'अहम्' अंश प्रधान हो जाता है। इस तत्व से ऐसा बोध होता है कि यह सब मेरा विभव है। सद्विद्या-तत्व भेदाभेद-विमर्शात्मक होता है। ये पाँचों तत्व परमशिव की महासत्ता से उत्पन्न होने के कारण शुद्ध स्वरूप के होते हैं। महासत्ता को तिरोधान करनेवाली संकुचित शक्ति को माया कहते हैं। इस माया से प्रभावित जो आभास उत्पन्न होते हैं, उन्हें अशुद्ध और संकुचित आभास कहते हैं। चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ ही माया के द्वारा संकुचित हो काल, नियति, राग, विद्या और कला के रूप में आभासित हो उठती है और पुरुषतत्व काल, नियति, राग, विद्या और कला तत्वों से प्रभावित हो नाना प्रकार के क्रिया-कलाप में अपने को लीन कर लेता है और ममत्व-परतत्व के बंधन से विजड़ित हो उठता है। मायाच्छन्न होने के कारण वह यह अनुभव नहीं कर पाता कि वह और कुछ नहीं परमशिव का ही आभास है। किंतु जब भिन्न प्रकार के मल-आणवमल, कार्ममल और मायीयमल—उसकी साधना से दूरीभूत हो जाते हैं तो वह सद्विद्यातत्व से उत्तरोत्तर शक्तितत्व की ओर बढ़ता जाता है और शक्तितत्व तक पहुँचकर वह स्वात्म-विश्रांति रूप परमानंद का अनुभव करता है। इस स्थिति में पहुँचने की अवस्था अव्यतिरेक तुरीयातीत अवस्था है। साधक इस अवस्था तक पहुँचकर पुनः नीचे नहीं उतरता। इस अवस्था में पहुँचा हुआ साधक मात्र 'अहम्' का अनुभव करता है। 'इदम्' 'अहम्' में ही समाहित

हो जाता है। अभिनवगुप्त रसचर्वणा को इसी शक्ति या विमर्श की अवस्था में रखते हैं। उनके अनुसार सामाजिक वीतविघ्न प्रतीतिगम्य भावों का आस्वाद माया की भूमि में नहीं ग्रहण करता। सामाजिक नाटक देखते समय नाटक के नायक के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उस समय वह ऐसा अनुभव करता है कि यह मैं हूँ। यह शुद्ध सद्विद्या की अवस्था है। धीरे धीरे मानसी, साक्षात्करात्मक अनुभूति के कारण 'इदं' अंश गौण पड़ जाता है और 'अहम्' प्रबल हो उठता है। इस अवस्था में ईश्वरतत्व की प्रधानता हो जाती है। सामाजिक समस्त अनुभूतियों को अपने में ही विहित कर लेता है। वह ऐसा नहीं समझता कि जो कुछ अनुभव कर रहा है उसके पीछे 'इदम्' (नाट्य) का माध्यम है, अपितु सब कुछ अपना ही समझकर वह अनुभव करता है। यहाँ अपने या पराए का बंधन नहीं रहता, प्रत्युत् बाह्य वस्तु की सत्ता का स्थान गौण रहता है और सामाजिक के संस्कारगत भाव ही आत्यंतिक मात्रा में जाग्रत हो उठते हैं। इसके पश्चात सामाजिक को 'अहमस्मि' का बोध होता है। 'इदम्' अंश उसकी भावना को जगा देता है, इसके अनंतर उसकी चर्वणा संस्कारगत भावों के कारण अबाध गति से होती रहती है। इस अवस्था में पूर्णतः तन्मयीभाव आ जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि 'मैं हूँ' के अतिरिक्त और कोई वस्तु उसे अवभासित नहीं होती। चरमावस्था में पहुँचकर सामाजिक मात्र 'अहम्' का अनुभव करता है। इस अवस्था में पहुँचने पर सामाजिक को विषय एक अत्यंत सूक्ष्म माध्यम के रूप में प्रतीत होता है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सामाजिक की भावनाएँ इतनी उद्दामता धारण कर लेती हैं कि वह सर्वतोभावेन वीतविघ्न हो हृदय परामर्श से उत्पन्न स्वात्म विश्रांति-रूप आनंद का अनुभव करता है। विषय का संबंध नहीं के बराबर ही रहता है, किंतु हम ऐसा नहीं कह सकते कि इस अवस्था में पहुँचकर विषय की सत्ता पूर्णतया समाप्त हो जाती है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि विषयसत्ता अत्यंत तिरस्कृत हो जाती है, किंतु रसानुभूति की चरमावस्था तक संस्कार का अनुवेध तो रहता ही है; क्योंकि रसानुभूति में हृदय परामर्श का प्राधान्य होता है। अभिनवगुप्त ने रसानुभूति को अव्यतिरेक तुरीयातीत की अवस्था में न रखकर व्यतिरेक तुरीयातीत की अवस्था में रखा है। उसके मूल में यह है कि अव्यतिरेक तुरीयातीत की अवस्था में पहुँचा हुआ साधक पुनः अपनी प्राकृत अवस्था को प्राप्त नहीं होता। उसे 'अहम्' के अतिरिक्त और कुछ अवभासित नहीं होता, किंतु सामाजिक की यह अवस्था नहीं होती। वह अभी तक इस प्रकार के निर्विघ्न प्रतीतिगम्य प्रकाश आनंदमय रस की अनुभूति करता है जब तक विभावादि के साथ उसका संबंध बना रहता है। विभावादि की अवस्थिति तक ही रसचर्वणा होती है और साथ ही यह मानसी होती है, प्रत्यक्षकल्प होती है और साक्षात्कारात्मक होती है, जब कि साधक की अनुभूति इससे सर्वथा विलक्षण होती

है। अतः रसानुभूति व्यतिरेक तुरीयातीत अवस्था में होती है। इस अवस्था में प्रमाता समस्त व्यवधानों से ऊपर उठकर विषय और विषयी दोनों की अभिन्नता अनुभव करता है। नाटक का विषय उसके अंतर्मन में निमज्जित हो जाता है और वह अपनी वासना के फलस्वरूप रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रमाता तभी तक रहता है जब तक रस विषय उसके समक्ष रहता है। रस विषय के तिरोधान के साथ ही वह अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने रसानुभूति और योगसाधना में एक विशेष अंतर प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार योगी जो आनंद प्राप्त करता है, वह आत्मा के साथ बलात्कार से उत्पन्न होता है, जब कि प्रमाता रस के आवेग से उस आनंद को उसी प्रकार वाणी रूपी धेनु से प्राप्त करता है जिस प्रकार धेनु अपने बछड़े की तृष्णा से दिव्य रस रूपी दूध प्रवाहित करती है।[12] योगजन्य आनंद और रसानुभूतिजन्य आनंद में एक दूसरा भी अंतर अभिनवगुप्त ने दर्शाया है। योगजन्य आनंद का अधिकारी मात्र विशिष्ट योगी ही होता है, वह आनंद व्यक्तिनिष्ठ होता है, जब कि सहानुभूतिजन्य आनंद समस्त प्रमाताओं की अनुभूति का विषय होता है[13] और समस्त प्रमाताओं की अनादि वासना से चित्रित चित्तों के वासना - संवाद के फलस्वरूप समस्त प्रमाताओं को एक समान अनुभूति होती है।[14] ऐसे अवसर पर जो सर्वात्मिका संवित्ति देहभेद के कारण संकुचित बनी रहती है, वह निरंतर विकसित होती हुई एक दूसरे में प्रतिबिंबित होने लगती है[15] और समस्त प्रमाताओं में एक

१२. वाग्धेनुर्दुग्ध एवं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि सः॥
तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या यो योगिभिर्दुह्यते। —ध्वन्या०, पृ० १६६

१३. इह तु दर्शने व्याप्तिग्रहणावस्थायां यावन्तस्तद्देशसंभाव्यमान सद्भावाः प्रमातारस्तावतामेको ऽसौ धूमाभासश्च वह्न्याभासश्च बाह्यतये इव, तावति तेषां परमेश्वरेणैक्यं निर्मितम्। — ईश्वरप्रत्यभिज्ञा० भा० २, पृ० १६५।

१४. सर्वेषामनादिवासना चित्रीकृत चेतसां वासनासंवादात्।
— अभिनवभारती, पृ० १७१।

१५. संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्ट प्रतिबिम्बाद्विकस्वरा।

समान अनुभूति के कारण तादात्म्य स्थापित हो जाता है। समस्त प्रमाताओं के साधारणीकरण के मूल में सर्वात्मिका संविति एवं वासनासंवाद है।

आभासवाद या साधारणीकरण—आभासवाद के अनुसार प्रत्येक आभास जो अमिश्र अवस्था में रहता है, समय और स्थान निर्विशेष होता है अथवा सामान्य ही होता है। मिश्र हो जाने पर वह विशेष हो जाता है और प्रत्येक प्रमाता उसे अपनी दृष्टि से विशेष रूप में देखता है।[१६] उदाहरण के लिये यदि मात्र 'नीला' कहा जाय तो प्रत्येक श्रोता को 'नीलेपन' का ही बोध होगा जो अपने रूप में सामान्य ही होगा, किंतु यदि 'नीला घट' कहा जाए तो श्रोताओं को भिन्न भिन्न रूप में घट के 'नीलेपन', उसकी गोलाई, लंबाई, चौड़ाई आदि विभिन्न रूपों का सामान्य रूप में बोध न होकर विशेष रूप में ही होगा; क्योंकि इन सबका संबंध एक विशेष वस्तु 'घट' के साथ है। रसानुभूति की प्रक्रिया में प्रमाताओं को निर्विशेष की ही अनुभूति होती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में जो आभास प्रस्तुत हैं, वे भिन्न नहीं होते और उनमें प्रमाता को विशेष की अनुभूति नहीं होती। दुष्यंत आदि पारमार्थिक न होने के कारण दुष्यंत विशेष के रूप में अवभासित न होकर सामान्य पुरुष या नारी के रूप में ही अवभासित होते हैं। इस प्रकार की मान्यता आभासवादियों की ही नहीं है, मीमांसकों ने भी इसे स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त ने आभास की निर्विशेषता सिद्ध करने के लिये 'अभिनव भारती में' मीमांसकों का मत उद्धृत किया है। 'सत्रमासत्', 'तामग्नौ प्रादात्' इन वाक्यों में 'आसत्' और 'प्रादात्' क्रियापद यद्यपि भूतकाल के सूचक हैं, तथापि भावक प्रतिभा, भावना, विधि, नियोग आदि के कारण उन्हें वर्तमानकालिक के रूप में ही ग्रहीत करता है तथा अन्य पुरुष की क्रिया को अपने ऊपर आक्षिप्त कर उसी प्रकार की क्रिया के संपादन के निमित्त तत्पर हो जाता है।[१७] इस प्रकार भावक को विवक्षित अर्थ से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है, जिसमें समय स्थान अनालिंगित रहते हैं। इसी प्रकार काव्यात्मक शब्द सहृदय प्रमाता को समय-स्थान अनालिंगित रूप में अधिक अर्थ की प्रतीति

स्वच्छात्मनिजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वाप्येताप्ययत्नतः॥
—तन्त्रालोक, २८-३-७३। संदर्भ : डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १७५।

१६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भा० २, पृ० ६४–६७।

१७. अभिनवभारती, पृ० ४७०।

कराते हैं जो समय स्थान से अनालिंगित होने के कारण निर्विशेष (साधारण) रूप में ही उपस्थित होते हैं। आभासवाद का यह सिद्धांत रसनुभूति की प्रक्रिया में अत्यंत आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इसके आधार पर ही विभावादि का साधारणीकरण संभव है।

अभिनवगुप्त ने नाट्य में दो ही इंद्रियों को रसग्राहिका इंद्रियों के रूप में ग्रहण किया है; वे हैं श्रवणेंद्रिय और नेत्रेंद्रिय। सामाजिक रंगमंच पर उपस्थित विभवादि के क्रियाकलाप देखता है तथा संलाप सुनता है। विभावादि उसके रसोद्रेक के माध्यम का काम करते हैं। वस्तुतः रसानुभूति की प्रक्रिया में अभिनवगुप्त ने रस को विषय के रूप में ग्रहण न करके रसना को उद्रिक्त करने के माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया है। जब सामाजिक रंगमंच पर रामादि के वेश में नट को देखता है तो प्रारंभिक अवस्था में उसकी नट बुद्धि आच्छादित हो उठती है, किंतु उस नट में उसकी राम बुद्धि स्थिर नहीं होती। कल्पना के सहयोग से वह देश काल आदि के बंधन से ऊपर उठ जाती है। परिणामस्वरूप नाट्यगत सामग्री उसकी निजी वासना को उद्बुद्ध करने में सहायक होने लगती है और देश काल के बंधन से अनालिंगित होने के कारण नाट्य सामग्री निर्विशेष रूप में ही उपस्थित होती है। इसका परिणाम यह होता है कि सामाजिक को अपनी कल्पना का उन्मुक्त उपयोग करने का अवसर प्राप्त होता है और जब सामाजिक अपनी भावनाओं की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वह नायक के साथ अनायास ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसी के समान समस्त परिस्थितियों में अनुभव करने लगता है। भावों के चरम-विकास की परिणति आत्म विस्मृति में हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक की आत्मा न तो पूर्ण रूप से उल्लिखित ही होती है और न तो तिरस्कृत ही होती है सामाजिक का व्यक्तित्व भी इस अवस्था में निर्विशेष हो जाता है। सर्वात्मिका संविति के कारण समस्त सामाजिकों का साधारणीकरण हो जाता है, और समस्त सामाजिकों के भाव उसी रूप में युगपत् दीपित हो उठते हैं, जिस रूप में अनेक दर्पणों में प्रतिबिंबित रवि रश्मियाँ दीप्त हो उठती हैं। हृदय परामर्श और वासना संवाद के कारण स्वात्म-विश्रांति-रूप, प्रकाश आनंदमय रस की अनुभूति होने लगती है जो प्रत्यक्षकल्प, मानसी और साक्षात्कारात्मिका होती है, क्योंकि चरम विकास के क्षण तक श्रोत्रेंद्रिय और नेत्रेंद्रिय इसमें सहायभूत सिद्ध होते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों को मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है।

नाट्य के नटादि सामाजिक के ध्यान के माध्यम उसी प्रकार सिद्ध होते हैं जिस प्रकार कृष्णादि की मूर्ति उपासक के ध्यान के माध्यम होते हैं, स्वयं उपास्य नहीं होते। मूर्ति के माध्यम से उपासक देवता विशेष की कृपा का भाजन बनता है,

उसी तरह नटादि के माध्यम से सामाजिक अपनी ही उद्‌बुद्ध वासना की चर्वणा करता है और आत्म-विश्रांति-रूप आनंद अनुभूत करता है। रसचर्वणा के अवसर पर सामाजिक भी देश कालादि से अस्पृष्ट हो स्वयं रसोद्रेक का फल प्राप्त करता है। उसे कभी यह अनुभव नहीं होता कि मैं किसी दूसरे के रस का आस्वादन कर रहा हूँ। देश काल आदि से अस्पृष्ट होने के कारण नाट्यसामग्री विधि स्थानीय हो जाती है।[१८] रसानुभूति चित्तवृत्यात्मक होती है। इस कारण सामाजिक रस विषय को देखकर प्रतिक्रियात्मक संवेगों का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत वह आत्मविश्रांति का अनुभव करता है। अतः रसचर्वणा मानसी और साक्षात्कारात्मक ही कही जा सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष नटादि सामग्रियों के देखने से दृष्ट वस्तु का मानसिक बिंब ही उभरता है जो सामाजिक को विश्रांति की ओर ले जाता है। यदि भावात्मक प्रतिक्रिया हो तो निश्चय ही सामाजिक को विश्रांति की अनुभूति नहीं हो सकती, प्रत्युत भावों का क्रियात्मक स्वरूप ही उसमें दृष्टिगोचर होगा जो मानसिक अविश्रांति का ही प्रतीक है।

तन्मयीभवन—जब प्रमाता कोई वस्तु देखना चाहता है तो उस समय वह उस वस्तु के प्रति व्यापक हो जाता है और चिन्मय होने के कारण वह वस्तु भी प्रमाता को अपने सहज, शुद्ध- प्रकाशमय स्वरूप में दृष्टिगोचर होने लगती है।[१९] उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि 'मैं इस घड़े का अनुभव करता हूँ'। इस कथन में अनुभव का विषय घड़ा और अनुभवकर्ता 'मैं' दोनों एकाकार हो उठे। अनुभव वस्तुतः तब होता है जब कि विषय की विषयी के आत्माकार परिणति हो जाय, दोनों

१८. तत्र च नटो ध्यायिनामिव ध्यानपदम्। न हि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः' इति स्मरणीय प्रतिपत्तिः, अपितु तदुपायद्वारेणागत स्फुटीभूत सकल्पगोचरो देवता विशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वत्‌नाट्यप्रक्रिया द्वारोदितस्फुटाध्यवसाय विषयितो नियतदेशकालाद्यस्पृष्ट विधिस्थानीयोऽर्थो 'मम इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति।

—वही, पृ० ४३४।

१९. ग्रहण समये भावस्य भावयाभावत्वेन भासितं निजं सहज शुद्ध प्रकाशात्मं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटी भवति, यतः तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति विकाससमये व्यापकी भवति।'—भास्करकंठ, संदर्भः। अभिनवगुप्त—ए हिस्टारिकल ऐंड फिलासौफिकल स्टडी, पृ० २८६।

एक हो जाएँ।[20] अभिनवगुप्त के अनुसार विराट् सार्वभौमिक परम शिव के चेतना रूपी समुद्र में विषय और विषयी की चेतना तरंगों का संमिलन ही ज्ञान है।[21] प्रमाता का वस्तु के प्रति व्यापक हो जाना इस भाव का द्योतन कराता है कि प्रमाता उस वस्तु को स्वात्मसात् कर लेता है तथा तन्मयीभाव का उसमें आसादन हो जाता है।[22] दोनों चेतना स्वरूप हैं, इसी लिये इस प्रकार तन्मयीभाव तथा एकाकारता संभव होती है। अंतर्मुखी दर्शन होने के कारण यह विषय की आत्माकार परिणति को स्वीकार करता है, जब कि वेदांत आदि दर्शन आत्मा की विषयाकार परिणति को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार विषय की आत्माकार परिणति ही तन्मयीभवन है। नाट्य विषय को जब प्रमाता देखता है तो उसकी चेतना व्यापक रूप में उसका ग्रहण करने लगती है और नाट्यविषय भी चेतनामय होने के कारण सहज, शुद्ध, प्रकाशमय स्वरूप में दृष्टिगत होने लगता है और दोनों चेतनाएँ एकाकार हो उठती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विषय और विषयी दोनों एक हो जाते हैं। विषयी (प्रमाता) विषय को स्वात्मसात् कर लेता है और विषय को विषयी की तदाकार परिणति के फलस्वरूप तन्मयीभाव का आसादन हो जाता है। प्रमाता इस स्थिति में जो कुछ अनुभूति करता है वह आत्मानुभूति ही होती है। विषय का कोई अनुवेध नहीं रहता, क्योंकि विषय आत्मचेतना में ही निमज्जित हो जाता है। आत्मानुभूति प्रकाशमय, आनंदमय ही होती है, क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश-विमर्शी-स्वरूप है और आनन्द और कुछ नहीं आत्मा की ही शक्ति है। अतः जो रसानुभूति होती है वह आत्मानुभूति से परे कोई वस्तु नहीं है। इसी लिये उसे चिन्मय, प्रकाशमय, आनंदमय आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

*

२०. 'तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टो मद्रूपतामापन्न एव चिन्मयत्वात्।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भा० १, पृ० ४२, पादटिप्पणी।

२१. अभिनवगुप्त—ए हिस्टॉरिकल ऐंड फिलासिफिकल स्टडी, पृ० ६८६।

२२. व्यापकीभावनंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावसादनं च वस्तुनः शुद्ध प्रकाशरूपत्वासादनमेव प्रमातुः शुद्ध प्रकाशमात्र रूपत्वात्।

—वही, पृ० २८७।

वैष्णव अनी अखाड़े

वेदप्रकाश गर्ग

•

कुंभ पर्व के चारों क्षेत्रों (हरिद्वार, प्रयाग, नासिक, उज्जैन) में योगावसर पर कुंभ योग शाही स्नान के रूप में अनेक शताब्दियों से चला आ रहा है, यह विश्वविदित है। किंतु शाही स्नान में भाग लेनेवाले इन अनी अखाड़ों के संबंध में तथ्य रूप विषय का ज्ञान अधिकांश को नहीं है। इन अनी अखाड़ों का असाधारण गौरव देखकर दर्शकों के हृदयों में इनके संबंध में जानने की उत्सुकता का जाग्रत होना स्वाभाविक है, किंतु प्रकट औत्सुक्य-समाधान-सामग्री के अभाव में उन्हें निराश ही होना पड़ता है। चारों कुंभ क्षेत्रों के शाही पर्व स्नान के अवसर पर प्रधान रूप से 'वैष्णवदल' तथा 'शंभुदल' दोनों ही दल शाही महत्व रखते हैं। इस लेख में केवल 'वैष्णव दल' के अनी अखाड़ों के लौकिक इतिहास पर ही कुछ प्रकाश डालने का प्रयास है।

अखाड़ों की रचना और संगठन

१८वीं शताब्दी में वैष्णव संप्रदायों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा था। यवन आक्रमणकारियों और विधर्मी शासकों से तो उनको अपार कष्ट था ही, वैष्णवेतर संप्रदायों की असहिष्णुता भी उनको त्रस्त कर रही थी। सुना जाता है कि वि० सं० १७२० के लगभग किसी कुंभ के अवसर पर नंगे होकर तीर्थों में स्नान करनेवाले शैव तथा शाक्त संप्रदायियों को वैष्णवों ने रोका—'तुम ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण मत करो। तीर्थ जलाशयों में नग्न होकर स्नान करना निषिद्ध है।' इसपर वे चिढ़ बैठे। इसी शास्त्र विरुद्ध कृत्य को करना उन्होंने अपना धर्म समझ लिया और वैष्णवों पर अत्याचार करने लगे। कहा जाता है कि लक्ष्मी गिरि और भैरव गिरि नामक गुसाइयों (शांकर मतावलंबी) ने तो प्रतिदिन कम से कम पाँच-पाँच वैष्णवों का वध करके ही भोजन करने की प्रतिज्ञा कर ली थी।

उस समय वैष्णवों के जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया था। मुसलमानों एवं उपद्रवी गुसाइयों से वैष्णवों की रक्षा के लिये समस्त वैष्णव संप्रदायों ने पारस्परिक मतभेद और सांप्रदायिक संकीर्णता के विचारों को भुलाकर सामूहिक संगठन किया। उक्त संगठन के फलस्वरूप वैष्णवों को तीन अनी और उनके ५२

द्वारे निर्धारित किए गए। इन अनियों का नेतृत्व रामानंद संप्रदायानुयायी वीर, प्रतापी और उत्साह संपन्न श्री बालानंद जी ने किया था।

फिर इन तीन अनियों के सात अखाड़े बनाए गए। आगे चलकर इन सातों अखाड़ों के १८ प्रभेद हो गए। अखाड़ों का पूर्ण संगठन निम्न प्रकार है —

इन अखाड़ों की ये तीन अनियाँ प्रसिद्ध हैं— १–निर्मोही, २–दिगंबर, और ३–निर्वाणी। पहली अनी में निर्मोही, महानिर्वाणी और संतोषी अखाड़े संमिलित रहते हैं। निर्मोही अखाड़े में १–रामानंदी निर्मोही, २–विष्णुस्वामी निर्मोही, ३–मालाधारी निर्मोही, ४–राधावल्लभी निर्मोही और ५–झाड़िया निर्मोही मिले रहते हैं। महानिर्वाणी अखाड़े में १–रामानंदी महानिर्वाणी साधुओं के साथ ही २–हरिव्यासी महानिर्वाणी भी मिले रहते हैं। संतोषी अखाड़े में १–रामानंदी संतोषी के साथ २–हरिव्यासी संतोषी मिले रहते हैं। इस प्रकार निर्मोही अनी में ९ अखाड़े हैं। इनमें श्रेष्ठता की दृष्टि से निर्मोही अखाड़ा प्रधान है।

दूसरी अनी में दो अखाड़े हैं—१–रामजी दिगंबर और २–श्यामजी दिगंबर।

तीसरी अनी में निर्वाणी, खाकी तथा निरालंबी ये तीन अखाड़े संमिलित रहते हैं। निर्वाणी अखाड़े में १–रामानंदी निर्वाणी, २–हरिव्यासी निर्वाणी और ३–बलभद्री निर्वाणी संमिलित रहते हैं। खाकी अखाड़े में १–रामानंदी खाकी के साथ ही २–हरिव्यासी खाकी अखाड़ा भी मिला रहता है। निरालंबी अखाड़े में १–रामानंदी निरालंबी के साथ २–टाटंबरी अखाड़ा मिला रहता है। इस प्रकार निर्वाणी अनी में ७ अखाड़े हैं। इन अखाड़ों में श्रेष्ठता की दृष्टि से सर्वप्रमुख निर्वाणी अखाड़ा है।

इस प्रकार सभी वैष्णव संप्रदायों के अखाड़ों के मिल जाने से कुल 'नव कुलों' का निर्माण हो गया है। ऊकल अखाड़ा इन सबका संमिलित पंचायती अखाड़ा है।

उपासना एवं संप्रदाय संबंध

यद्यपि वैष्णवों की तीन अनियों के सभी अखाड़ों में श्री राम-कृष्ण की ही उपासना है, इसी से पत्रव्यवहार में 'श्रीरामकृष्णाभ्यां नमः' शीर्षक रहता है, तथापि कुछ अखाड़ों में रामोपासकों की अधिकता है और कई एक अखाड़ों में कृष्णोपासकों का आधिक्य है। इसी लिये इन वर्तमान १८ अखाड़ों में ७ अखाड़ों की गणना रामजी में और ११ अखाड़ों की गणना श्याम जी में है। निर्मोही अनी में रामानंदी निर्मोही, रामानंदी महानिर्वाणी और रामानंदी संतोषी नामक अखाड़े श्री रामोपासना प्रधान हैं तथा विष्णुस्वामी निर्मोही, मालाधारी निर्मोही, राधावल्लभी

निर्मोही, झाड़िया निर्मोही, हरिव्यासी महानिर्वाणी और हरिव्यासी संतोषी नामक अखाड़े श्री कृष्णोपासना प्रधान हैं। ऐसे ही दिगंबर अनी में एक अखाड़ा रामजी और दूसरा श्यामजी का प्रसिद्ध है, जो नाम से ही प्रकट है। निर्वाणी अनी में भी रामानंदी निर्वाणी, रामानंदी खाकी और रामानंदी निरावलंबी नामक अखाड़े रामजी के तथा हरिव्यासी निर्वाणी, बलभद्री निर्वाणी, हरिव्यासी खाकी और टाटंबरी नामक अखाड़े श्याम जी के हैं।

श्री राम और श्री कृष्ण—इन द्वयोपासना संबंध के कारण ही भागवत-धर्म सिद्धांत प्रधान श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक ये चार वैष्णव संप्रदाय प्रसिद्ध हैं। इन संप्रदायों के अतिरिक्त कुछ और स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय भी हैं, किंतु उनको भी इन चारों संप्रदायों में ही अंतर्भुक्त मान लिया जाता है। आचार्य नाम भेद से भिन्न भिन्न संप्रदायों में मंत्र, इष्ट, उपास्य स्वरूप, क्षेत्र, शाखा, मुक्ति तथा धर्मादि भेद हैं। जैसे—

श्री संप्रदाय

श्री संप्रदाय के नाम से दो संप्रदाय अभिप्रेत हैं - १—रामानुज संप्रदाय और २—रामानंद संप्रदाय। इन दोनों का दार्शनिक सिद्धांत एक ही है। वह है 'विशिष्टाद्वैत', किंतु उपासना स्वरूप में कुछ भेद है। रामानुज संप्रदाय के आचार्य श्री रामानुज हैं इस संप्रदाय में लक्ष्मीनारायण स्वरूप भगवान् की उपासना और अष्टाक्षर नारायण मंत्र, श्री रंगधामादि प्रधान हैं। वैष्णवों के नाम-माला-मंत्र-तिलक और मुद्रा—इन पाँच संस्कारों में से तुलसी की कंठी (माला), सेवा, भाव, भजन के अतिरिक्त हर समय कंठ में नहीं रखते। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय का कोई अखाड़ा नहीं है। भगवत् उत्सव समयादि के अवसर पर अनी अखाड़ों के साथ इस संप्रदाय का संपर्क अवश्य रहता है।

रामानंद संप्रदाय के आचार्य श्री रामानंद हैं। इस संप्रदाय में श्री सीताराम स्वरूप भगवान् की उपासना, षडाक्षर राममंत्र, अयोध्या धाम, अंतशाखा, राघवानंद महाप्रसाद, श्रवण द्वार और सायुज्य मुक्ति है। पंचसंस्कार वैष्णव सदा धारण किए रहते हैं। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और रामानंदी नाम से स्वतंत्र अखाड़े भी हैं।

ब्रह्म संप्रदाय

ब्रह्म संप्रदाय के नाम से तीन संप्रदाय अभिप्रेत हैं— १—मध्वसंप्रदाय २ हित संप्रदाय और ३—गौड़ीया संप्रदाय।[1]

[1] गौड़ीय संप्रदायी अपने को मध्वसंप्रदाय के अंतर्गत मानते हैं, पृथक नहीं तथा इसी लिये संप्रदाय को वे माध्व गौड़ीय संप्रदाय कहते हैं।—संपादक

मध्व संप्रदाय के प्रवर्तकाचार्य श्री मध्व होने से यह 'मध्व संप्रदाय' नाम से प्रसिद्ध है। दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैत' है। श्री कृष्ण भगवान् की उपासना और विष्णु हंस मंत्र है। सावित्री इष्ट, बद्रिकाश्रम धाम, अंकयात क्षेत्र, सालोक्य मुक्ति और मुख द्वार है। इस सप्रदाय का तीनों अनी अखाड़ों में कोई अखाड़ा नहीं है।

हित संप्रदाय का नाम ही राधावल्लभ संप्रदाय है। इसके प्रवर्तकाचार्य श्री हित हरिवंश हैं। इनका दार्शनिक सिद्धांत 'सिद्धाद्वैत' है। नित्य युगलकिशोर स्वरूप राधावल्लभलाल भगवान् की उपासना और द्वादशाक्षर युगल मंत्र है। राधा इष्ट है। वृंदावनधाम, यमुनाक्षेत्र, महाप्रसाद निष्ठा, चक्षुद्वार और युगल कृपा द्वारा सामीप्य मुक्ति है। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और निर्मोही अनी के अतर्गत स्वतंत्र 'राधावल्लभ निर्मोही' अखाड़ा भी है।

चैतन्य संप्रदाय का नाम गौडीय संप्रदाय भी है। इसके आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। दार्शनिक मत 'अचिंत्य भेदाभेद' हैं। गोपेंद्रनंदन स्वरूप भगवान् की उपासना, व्रज वृंदावन धाम, नित्यानंद शाखा, सायुज्य मुक्ति प्रधान है। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और निर्वाणी अनी में बलभद्री निर्वाणी के नाम से अखाड़ा भी है।

'दादू सप्रदाय' का नाम भी 'ब्रह्म संप्रदाय' मे है। इसके प्रवर्तकाचार्य दादूदयाल जी हैं। दादू जी विरक्त, ज्ञानी और भक्तिरस में रत थे। यह उनकी वाणी से भी विदित है। ये तिलक छाप के आग्रही नहीं, इनका अंतर्मुखी योग से प्यारे प्रियतम में लय रहना ही साधन है और निरंजन निराकार रूप में ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र अनुभव करना लक्ष्य है। स्वतंत्र 'दूधाधारी निर्मोही' अखाड़ा है। इनका प्रधान केंद्र नरेणा (राजस्थान) मे है। यह 'दूधाधारी अखाड़ा' निर्मोही अनी मे सम्मिलित होकर कुंभपर्व पर शाही स्नान करता है। इसी से निर्मोही अनी में ६ की जगह साढ़े नौ अखाड़े भी माने जाते हैं।

रुद्र संप्रदाय

रुद्र संप्रदाय के नाम से दो संप्रदाय इष्ट हैं— १–विष्णुस्वामी संप्रदाय और २–वल्लभ संप्रदाय। इन दोनों संप्रदायों का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत' है। विष्णु स्वामी संप्रदाय में राधाकृष्ण स्वरूप भगवान् की उपासना, श्री तुलसी मंत्र, लक्ष्मी इष्ट पुरुषोत्तम धाम, त्रिपुरारि शाखा, नेत्रद्वार, साम्राज्य मुक्ति प्रधान हैं। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और निर्मोही अनी में स्वतंत्र 'विष्णुस्वामी निर्मोही' अखाड़ा भी है।

वल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तकाचार्य श्री वल्लभाचार्य हैं। इस संप्रदाय में बालस्वरूप नंदनंदन भगवान् की वात्सल्य भावमयी उपासना है और श्री कृष्णशरण

मंत्र प्रधान है। संस्कार में तिलक, कंठी, मंत्र ये तीन हैं। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय का कोई अखाड़ा नहीं है।

सनक संप्रदाय

सनक संप्रदाय का नाम निंबार्क संप्रदाय भी है। इस संप्रदाय के आचार्य श्री निंबार्काचार्य हैं। दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैत' है। श्री गोपालस्वरूप भगवान् की उपासना और अष्टादशाक्षर गोपाल मंत्र है। रुक्मिणी इष्ट, द्वारावतीधाम, हंस शाखा, गोमती क्षेत्र, श्री भट्ट महाप्रसाद, नासिकाद्वार, सारूप्य मुक्ति, प्रधान है। इस संप्रदाय में हरिव्यासदेव जी प्रधानरूप से प्रचारक होने के कारण इसका दूसरा नाम 'हरिव्यासी संप्रदाय' भी है। इस संप्रदाय के हरिव्यासी वैष्णव तीनों अनी अखाड़ों में भी हैं और हरिव्यासी के नाम से निर्मोही तथा निर्वाणी अनी में स्वतंत्र अखाड़े भी हैं। एक और अखाड़ा 'झाड़िया निर्मोही' नाम से निर्मोही अनी के अंतर्गत है। अब यह अखाड़ा 'रामानंदी झाड़िया' बन रहा है।

इस प्रकार इन तीनों अनी अखाड़ों में सभी वैष्णव संप्रदायों के अनुयायी न्यूनाधिक रूप में संमिलित हैं। इनमें न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। सभी वीर वैष्णव बांधव हैं। सभी महावीर ध्वजधारी हैं और सभी अपने अपने अखाड़े की रेख टेक पालन करने मे कुशल हैं। अतः इन अखाड़ों के वैष्णवों मे सांप्रदायिक संकीर्णता को स्थान नहीं दिया गया, अपितु संप्रदाय को गौण रखकर अखाड़ों की रेख टेक (मर्यादा पालन) को ही मुख्य माना गया। सभी अखाड़ों में उदारता का भाव है। वैष्णवों मे परस्पर प्रेम है। सभी संप्रदायों का समादर है। सभी अपने-अपने अखाड़ों की जय के साथ चारों संप्रदाय, बावनद्वारे, अनंत कोटि वैष्णव, अपने अपने गुरु गोविंद, हनुमान गरुड़देव, रामकृष्णदेव तथा महाप्रसाद की समान रूप से जय बोलते हैं।

उक्त संप्रदायों में से किसी भी संप्रदाय का अनुयायी वैष्णव हो, वह किसी भी अखाड़े का 'रकमी' (रेख टेक पालन करनेवाला) बन सकता है। जो अखाड़े की रकम उठाता है, प्रतिज्ञा पालन करता है, उसके लिये कहीं कोई रोक टोक नहीं रहती। इसी प्रकार किसी भी द्वारेवाला व्यक्ति किसी भी अखाड़े का नागा बन सकता है।

अखाड़ों के साधुओं की श्रेणियाँ

अपने गुरुस्थान को छोड़कर 'चतुःसंप्रदाय' की सेवा करने की भावनावाला साधु इन अखाड़ों में संमिलित होकर 'अखाड़ामल्ल' के नाम से पुकारा जाता है। वह रकमी निम्नलिखित श्रेणियों को क्रमशः मर्यादानुसार प्राप्त करता है। जिस

नागा की सेवा में वह साधु नियोजित होता है, उसका वह 'सादिक' कहलाता है। इन साधुओं की ये श्रेणियाँ हैं —

१. यात्री—ये साधु अपने से बड़ी श्रेणीवालों के लिये दातुन आदि का प्रबंध करते हैं तथा इधर उधर भ्रमण किया करते हैं।

२. छोरा—अपने से बड़े बंदगीदार से लेकर अतीत तक की सेवा के लिये प्रभाती लाना, जल लाना, स्नान कराना, पत्ता दौना लगाना, बुहारी देना, चौका लगाना और अतिरिक्त समय में अपने पठन पाठन में तत्पर रहना इनका काम है। इसका व्यावहारिक नाम 'रकमी' भी होता है।

३. बंदगीदार—कोठार की वस्तु संभालना, भोजन तैयार करना, मंदिर में थाल पहुँचाना, हनुमान जी का पट लेकर चलना, छड़ी उठाना तथा शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्राप्त करना ही इनका काम है।

४. हुरदंगा—भगवत्सेवा पूजा, आरती करना, भोग लगाना, पंगत (पंक्ति) कराना, निशान उठाना, पंच की गोलक संभालना तथा शास्त्र शस्त्र विद्या में निपुणता प्राप्त करना इनका काम है।

५. मुदाठिया—भगवत्-भागवत-सेवा-पूजा करना, हिसाब संभालना, टहलवा आदि से टहल कराना, सबकी देख रेख रखना, एवं शास्त्र-शस्त्रास्त्र विद्या में विशेषता प्राप्त करना ही इनका मुख्य कर्तव्य है।

६. नागा—सेवकों को चेतावनी देना, भगवत-भागवतों की पूजा का प्रबंध करना, संप्रदाय के मठ मन्दिरों एवं अनुयायियों की रक्षा करना, नृसिंहा बाजा बजाना, जमात बनाकर देश मे भ्रमण करना, वैष्णव धर्म का प्रचार करना, कुंभ का प्रबंध करना, आदि इनके प्रमुख कर्त्तव्य हैं।

७. अतीत—संप्रदाय की प्रमुख समस्याओं पर विचार करना, उनका हल प्रस्तुत करना, भगवत भागवत भजन भाव निष्ठा तथा नागादि के प्रति हितप्रद आदेश देते रहना, आदि इन नागा अतीतों का काम है। सिद्ध नागाओं को ही नागा अतीत के नाम से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त श्रेणियों के अतिरिक्त दो श्रेणियाँ और मानी जाती हैं—

सदर नागा—पंच मिलकर सदर नागा का चुनाव करते हैं। अखाड़ों के पंचों की ओर से, चुने हुए सदर नागा को इनाम (कोई विशेष वस्तु) कंठी, कटोरी और कोतवाल मिलता है। तत्पश्चात् वह जमात बाँधकर देश में बारह वर्षतक विचरण भ्रमण करता है और प्राप्त आय से अखाड़े का नकशा (वस्तु) बनाना, भगवद्भक्तिवर्धक सुदर उपदेश देकर सेवक वैष्णव वर्ग बढ़ाना, उनके द्वारा परोपकारी कार्य कराना आदि उसके प्रधान कर्तव्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य श्रेणी के

साधुओं को शस्त्रास्त्र, वैष्णव रहनी रीति, धर्म कर्म संबंधी शिक्षा देना, दोनों समय अभ्यास कराना, प्रत्येक कार्य में निरालस्य तत्पर रहना तथा अन्य सबको उद्यत रखना भी उसके कार्य हैं।

महाअतीत—पंच पंचायत तथा राज दरबार आदि का जो कुछ भी योग्य कार्य होता है, उन सब ऐसे कार्यों के लिये वह नियत रहता है। वैसे महाअतीत का मुख्य कार्य भगवद्भजन करना ही है।

एक एक श्रेणी की तीन तीन वर्ष पर्यंत अवधि रहती है, जिसमें सदर नागा की अवधि १२ वर्ष तक रहती है। अतीत की अवधि देहावसान तक मानी जाती है। सदर नागा का निर्वाचन अखाड़े के पंचों द्वारा किया जाता है। वह स्वतंत्र जमात लेकर देशाटन किया करता है। उक्त काल मे जिन स्थानों पर जमात जाया करती है, वहाँ उसका खूब स्वागत सत्कार किया जाता है।[२] इस प्रकार संप्रदायों की उन्नति और उनके प्रभाव क्षेत्र का विस्तार होता रहता था।

अधिकार—५२ महांतों के ऊपर एक सदर नागा का अधिकार होता है और ५२ नागाओं के ऊपर एक अतीत का अधिकार होता है।

साधुओं के कर्तव्य

अखाड़ों के साधुओं का, हिंदू धर्म एवं हिंदुओं के मंदिरों की रक्षा करना, वैष्णव धर्म के विद्रोहियों का दमन करना, कुंभपर्व के अवसर पर वैष्णव संप्रदाय की मर्यादा की रक्षा करना, अखाड़ों के नियमों का पालन करना, परंपरा की रक्षा करना, कार्यकारिणी की आज्ञा का अनुगमन करना आदि कर्तव्य हैं। सभी रकमिया का अपने निश्चित् कर्त्तव्यों का पालन करते हुए शास्त्र तथा शस्त्र विद्या में निपुणता प्राप्त करना प्रमुख कर्तव्य है। इसी कारण इन साधुओं का अधिकांश समय सैनिक शिक्षा प्राप्त करने में ही व्यतीत होता है।

विशिष्ट शब्दावली

रकम—एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। इसके नियत दिन के शुभावसर पर दूधपाक, मालपुआ, कच्ची पक्की विशेष सामग्री का भगवान् को भोग लगाया जाता है। तत्पश्चात्, रकमी रकम उठाता है। यह अखाड़े की एक प्रधान वस्तु मानी जाती है, वह सिखलाई जाती है, पूछी जाती है।

सेली—नागाओं की ये चार सेली मानी जाती हैं—१—सागरिया,

२. आजकल सदा घूमनेफिरनेवाली ये जमातें बंद सी हो गई हैं।

२–उज्जैनिया, ३–वसंतिया और ४–हरिद्वारिया। इनके नाम रंग, दिखादि अंतरंग भेद पृथक्-पृथक् हैं, जिनका कि रकम की प्रधान वस्तु होने के कारण सर्वसामान्य के समक्ष उल्लेख नहीं किया जाता, नागा बननेवालों को ही बताया जाता है। इन सेली नागाओं को 'पट्टदार' भी कहते हैं।

उतार चढ़ाव—पारस्परिक घनिष्ट संपर्क जुड़े रहने के उद्देश्य से उक्त सेलियों के उतार चढ़ाव का क्रम है। जैसे—सागरिया सेली के हाथ के नीचे उज्जैनिया और उसके हाथ के नीचे वसंतिया, वसंतिया के हाथ के नीचे हरिद्वारिया और हरिद्वारिया के हाथ के नीचे सागरिया सेली रहती है। इस प्रकार उतार चढ़ाव की नियमावली रकम की है। रकम में दो रकम 'सदरी' तथा दो रकम 'कदरी' नाम से अभिहित हैं।

उक्त सेलियों में सागरिया और उज्जैनिया सदर नागा होकर प्रयाग कुंभ को प्रयाण करती हैं। वसंतिया और हरिद्वारिया सदर नागा होकर हरिद्वार कुंभ जाती हैं। इस प्रकार इन दो संज्ञाओं का अंतर छह वर्ष का होता है।

शेली—यह अनियों के पहचान की एक वस्तु होती है, जो काले डोरे से बनी हुई होती है। निर्मोही अपने दाहिने पग में और निर्वाणी अपने बाएँ पग में बाँधे रहते हैं। दिगंबर अनीवाले नहीं बाँधते है।

लट्टूरी—यह भी अनियों की परिचायिका है। सिर के केशों की लट्टूरी (जूड़ा) को निर्मोही दाहिनी ओर को झुकी हुई, दिगंबर ठीक मध्य भाग में और निर्वाणी बाईं ओर को झुकती हुई बाँधते हैं।

महावीरी—सिंदूर की एक रेखा लगाई जाती है, जो महावीर की प्रसादी होती है। इसे निर्मोही दाहिनी ओर भृकुटी के पास, दिगंबर सीधी मध्य में और निर्वाणी बाईं ओर की भृकुटी के पास लगाते हैं।

कुंभ पर अखाड़ों के मिलने का क्रम

कुंभादि पर्वों पर शाही स्नान को जाते समय प्रत्येक अनी के अखाड़ों का इस प्रकार मेल होता है —

निर्मोही अनी — रामानंदी निर्मोही, रामानंद संतोषी और रामानंदी महानिर्वाणी—ये तीनों अखाड़े एक साथ मिलते हैं। विष्णु स्वामी निर्मोही, मालाधारी निर्मोही, हरिव्यासी संतोषी, हरिव्यासी महानिर्वाणी, राधावल्लभी निर्मोही और झाड़िया निर्मोही ये छह अखाड़े एक साथ मिलते हैं। तत्पश्चात् ये मिले हुए दलद्वय एक साथ मिलते हैं। इस प्रकार ९ निर्मोही अखाड़ों का एकत्र समूह

'निर्मोही अनी' कहलाता है। तदनंतर एक साथ कुंभ-शाही-स्नान करने चलते हैं। इन्हीं के साथ दादूपंथी 'वृधाधारी निर्मोही' अखाड़ा भी स्नान करने जाता है।

दिगंबर अनी—रामजी दिगंबर और श्यामजी दिगंबर, ये दोनों अखाड़े एक साथ मिलकर 'दिगंबर अनी' कहलाते हैं।

निर्वाणी अनी—रामानंदी खाकी, निरावलंबी और रामानंदी निर्वाणी, ये तीनों अखाड़े एक साथ मिलते हैं। हरिव्यासी निर्वाणी, हरिव्यासी खाकी, बलभद्री और टाटंबरी नामक चार अखाड़े परस्पर मिलते हैं। तत्पश्चात् ये मिले हुए दलद्वय एक साथ मिलते हैं। इस प्रकार ७ अखाड़ों का एकत्र समूह 'निर्वाणी अनी' कहलाता है। निर्वाणी और निर्मोही अनी आगे पीछे रहती हैं और दिगंबर अनी दोनों के मध्य में। युद्ध के समय दाहिनी ओर निर्वाणी, मध्य में दिगंबर और बाएँ पार्श्व में निर्मोही रहा करते थे। इनके भिन्न भिन्न निशान भी थे।

ध्वज एवं उसके चिह्न

तीनों अनियों के निशानों (ध्वजों) में महावीर जी (हनुमान) की प्रतिमा तो समान रूप से होती है, किंतु रामोपासक अखाड़ों के निशानों के भीतर की ओर सूर्यनारायण का चिह्न बना रहता है। यही भिन्नता है। निर्मोही अनी के ध्वज का बादला रूपहरा (श्वेत) दिगंबर अनी के निशान का बादला पंचरंगा और निर्वाणी अनी के ध्वज का बादला सुनहरा होता है।

वाद्य

रणसिंहा—तीनों अनियों में बजाया जाता है। निर्मोही और निर्वाणी अनी का बाजा अरबी (अर्जुन) है और दिगंबर अनी का बाजा बैंड है। निर्मोही अनी के आगे नौबत झाड़िया निर्मोही अखाड़ा बजाता है। दिगंबर अनी के आगे नौबत गर्व-गंजनी बजती है और निर्वाणी अनी के आगे डंका रामानंदी खाकी बजाता है।

इन तीनों अनी अखाड़ों की ओर से अपनी अपनी अनी में सर्वसंमति से चुने हुए, अनी के एक एक महंत और प्रधान मंत्री नियुक्त रहते हैं, जिनके अधिकार में कुंभ शाही स्नान संबंधी सरकारी व्यवस्था के साथ संपर्क रखना और उस अनी के उत्तरदायित्व का भार रहता है। इसके अतिरिक्त आगत आदरणीय महानुभावों के स्वागत का प्रबंध करना भी है। कुंभ इन अखाड़ों का सर्वस्व है। कुंभ के लिये वर्षों से तैयारियाँ करते हैं, किंतु इन तैयारियों में ही इनके अस्तित्व का उद्देश्य समाप्त नहीं हो जाता। इनका संगठन ही कर्मपथ का अवलंबन लेते हुए किया गया है। कुंभ की रोचकता को भी ये अखाड़े खूब बढ़ाते हैं।

खालसा

सिक्खों के अनुकरण पर कुछ खालसों का भी संगठन किया गया है, जिन्हें

चतुःसंप्रदाय खालसा कहते हैं। इन तीनों अनी अखाड़ों के अतिरिक्त अन्य सब वैष्णव संगठन 'खालसा' कहलाते हैं। इन खालसों में वीरध्वज होगा तो वह इन तीनों अनियों में से किसी एक अखाड़े का ही होगा। खालसा का स्वतंत्र निशान नहीं है। अतः खालसे भी तीनों अनी अखाड़ों के शाही-स्नान-महत्व के अंतर्गत ही महत्व-युक्त हैं। श्री वैष्णवों के वर्तमान खालसा निम्नलिखित हैं —

१– चार संप्रदाय खालसा, २– डाकोर खालसा, ३– इंदौर खालसा, ४– बारह भाई डाँडिया खालसा, ५–नंदरामदास चीरमदास खालसा, ६–तेरह भाई त्यागी खालसा, ७–सप्तऋषि खालसा, ८–रतलाम खालसा और ९–महात्यागी खालसा।

इन खालसों में भी सभी संप्रदायों के वैष्णव महानुभाव रहते हैं। प्रत्येक खालसा के संत-सेवा-भावी महांतों में, चाहे गादीस्थ हो चाहे संमाननीय संत महंत हों, वे तीनों अनी अखाड़ों की ओर से संमानित किए गए ही 'श्री महांत' कहाते हैं।

अनी अखाड़ों की बैठकें

निर्मोही अनी—रामानंदी निर्मोही अखाड़े की बैठकें वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, पुरी, नासिक, उज्जैन, गोवर्द्धन आदि में हैं। रामानंदी महानिर्वाणी की वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, पुरी आदि मे हैं। रामानंदी संतोषी की अयोध्या, चित्रकूट आदि में है। मालाधारी निर्मोही और हरिव्यासी महानिर्वाणी की बैठक वृंदावन में है तथा हरिव्यासी संतोषी की पुरी में है। विष्णुस्वामी निर्मोही की बैठक वृंदावन और बूँदी (कोटा) में हैं। झाड़िया और राधावल्लभ निर्मोही की बैठकें वृंदावन और नीम का थाना (जयपुर) में है। इनके अतिरिक्त शिवपुर, बड़ौदा (ग्वालियर) आदि कई स्थानों में इनकी पुरानी छावनियाँ भी थीं।

दिगंबर अनी—रामजी दिगंबर की बैठकें—वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उजैन, पुरी आदि में और श्यामजी दिगंबर की बैठकें वृंदावन, पुरी आदि में है। इनके अतिरिक्त इनकी छावनियाँ भी हैं।

निर्वाणी अनी—रामानंदी निर्वाणी की बैठकें वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, उजैन, पुरी, गोवर्द्धन आदि में हैं। रामानंदी खाकी की—अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उज्जैन, पुरी आदि में हैं। निरावलंबी की बैठकें वृंदावन, अयोध्या, पुरी आदि में हैं। हरिव्यासी निर्वाणी की वृंदावन में, बलभद्री की वृंदावन, पुरी आदि में और टाटंबरी की वृंदावन में हैं। हरिव्यासी खाकी की बैठकें अज्ञात हैं। इनके अतिरिक्त इनकी छावनियाँ भी हैं।

अखाड़ों की शासनव्यवस्था

अनी अखाड़ों की सुव्यवस्था के लिये अनेक नियम बनाए गए थे, जिनका

बड़ी कठोरता से पालन किया कराया जाता है। यहाँ इन अखाड़ों की सामान्य शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डाला जा रहा है। इन अखाड़ों के निम्नलिखित अधिकारी होते हैं—

महांत—महांत का चुनाव प्रत्येक अखाड़े के सदस्य नागा अतीत करते हैं। इनके द्वारा निर्वाचित महांत को चुनाव के समय प्रस्तुत रहना पड़ता है। अखाड़ों की व्यवस्था महांत, पंच तथा सरपंच आदि की एक कार्यकारिणी समिति द्वारा की जाती है। महांत को इस समिति की आज्ञा माननी पड़ती है, अन्यथा उसे सामान्य सभा पदच्युत कर देती है। महांत, सरपंच या पंच आदि त्याग पत्र न दें तो आजीवन अपने पद पर बने रह सकते हैं। इनमें से यदि किसी की मृत्यु हो जाय या कोई त्यागपत्र दे दे तो रिक्त स्थान की पूर्ति अखाड़े के नागा अतीतों की एक विशेष आयोजित सभा द्वारा की जाती है।

अखाड़ों की संपत्ति की देखभाल व्यवस्थापिका समिति के कुछ पंचों द्वारा होती है। वर्ष मे कार्यकारिणी समिति की बैठक एक बार अवश्य होती है। उसमें प्रत्येक साधु एवं महांतादि के कर्तव्याकर्तव्य पर विचार किया जाता है। महांत अखाड़े की संपत्ति का स्वामी होता है। उसे अखाड़े के मंदिर आदि की पूजा व्यवस्था करनी पड़ती है। परंपरा की रक्षा करना भी उसी का काम है। सांप्रदायिक वेशभूषा आचार व्यवहार का उसे पूर्णतः पालन करना पड़ता है। न तो उसे उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार होता है और न परंपरा के विरुद्ध आचरण करने का। साधुओं को नागा बनाने का कार्य महांत ही करता है। उसी को शिष्य बनाने का अधिकार होता है। महांत आय व्यय का पूरा लेखा पंचों को देता रहता है और महांती से हट जाने पर सामान्य सदस्य मात्र रह जाता है।

गोलकी—अखाड़ों की संपत्ति के आय व्यय का हिसाब गोलकी रखता है। इसका निर्वाचन तीन वर्ष के लिये किया जाता है। सामान्य व्यय के लिये यह १००) तक अपने पास रख सकता है। गोलकी के सामने ही एक पुजारी दूसरे पुजारी को कार्यभार सौंपता है। बदचलनी पर गोलकी बीच में ही पदच्युत हो सकता है।

अखाड़ों की सामान्य व्यवस्था प्रायः उपर्युक्त रीति से ही होती है। मठों में सैकड़ों साधु नित्यप्रति भोजन करते हैं। उनके रहने की व्यवस्था भी वहीं की जाती है। प्रत्येक मठ के साथ एक मंदिर भी होता है, जिसमें सांप्रदायिक पूजा पद्धति के अनुसार भगवान् की मूर्ति की आराधना भी होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अखाड़ों का हमारे धार्मिक संप्रदायों में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। अत्याचारियों का दमन करके उन्होंने हिंदू धर्म एवं जाति का बड़ा उपकार किया है। लगभग तीन सौ वर्षों से ये अखाड़े हिंदू धर्म और

हिंदू जाति की अनवरत तथा अपूर्व सेवा करते चले आ रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। अनी अखाड़ों के संगठन तथा प्रबंध में समस्त वैष्णव संप्रदायों ने योग दिया था, जिसके कारण उनके अस्तित्व की ही रक्षा नहीं हुई, वरन् उनकी सामूहिक उन्नति भी हुई। इन अनी अखाड़ों ने वैष्णवों के सैनिक और धार्मिक केंद्रों के रूप में महत्व-पूर्ण क,र्य किया है।

❀

आई पंथ का आई-उग्रप्रकाश

शिवसिंह चोयल

•

भारत के निवासी विभिन्न जातियों और संप्रदायों में बँटे हुए हैं। इस देश में कई संप्रदायों के प्रमुख स्थान हैं जहाँ बड़े बड़े भवन और मंदिर बने हुए हैं। आई संप्रदाय भारत में अपनी अनेक विशेषताओं के फलस्वरूप एक खास जाति (सीरवी) का संप्रदाय ही न होकर कई जातियों द्वारा अपनाया गया शक्ति संप्रदाय है। इस संप्रदाय को माननेवालों में अधिकांश सीरवी लोग हैं जिनकी आबादी राजस्थान जोधपुर क्षेत्र में पाली और जोधपुर जिलों में सबसे अधिक है। कुछ मात्रा में उदयपुर जिले में भी आई पंथी सीरवियों के घर बताए जाते हैं। मारवाड़ के अतिरिक्त मध्यभारत में भी सीरवियों की संख्या अधिक है। आई पंथ का मुख्य देवस्थान बढ़ेर बिलाड़ा (जोधपुर जिला) है जहाँ आईजी का प्राचीन मंदिर है और उनके अधिष्ठाता पुजारी दीवान साहब के बड़े सुंदर भवन बने हुए हैं। बिलाड़ा बढ़ेर का प्राचीन इतिहास पूर्ण रूप से अभी तक नहीं लिखा गया है। इस संप्रदाय के संबंध में 'आई-आनंद-विलास' 'आईचरित्र' और 'आई-उग्रप्रकाश' आदि राजस्थानी भाषा के पद्यात्मक ग्रंथ भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न कवियों द्वारा रचे गए थे। इनमें से 'आई-आनंदप्रकाश' और 'आई-उग्रप्रकाश' ही देखने में आए हैं। शेष आईचरित्र जो भारत के प्रथम राष्ट्रीय कवि दुर्शाजी आढ़ा पाँचेटियावाले के वंशज खुमानसिंह आढ़ा द्वारा रचा गया था, उसकी हस्तलिखित प्रति इन वर्षों में देखने में नहीं आई है। प्रथम ग्रंथ आई आनंदविलास को कुछ वर्षों पूर्व सीरवी नवयुवक मंडल, बिलाड़ा ने प्रकाशित कर दिया था आई-उग्रप्रकाश अभी तक अप्रकाशित अवस्था में ही पाई गई है। अधोलिखित पंक्तियों में आई-उग्रप्रकाश के विषय में कुछ जानकारी देने का प्रयास किया जा रहा है —

आई-उग्रप्रकाश राजस्थानी का पद्यात्मक ग्रंथ है। इसके रचयिता पुष्करणा जाति के ताराचंद जी व्यास थे जो आईजी के दीवान साहब बढ़ेर बिलाड़ा के कामदार (मुख्य कार्यकर्ता) थे। इस ग्रंथ में नवदुर्गावतार भगवती आई माता अथवा जीजी बाई के सविस्तर वर्णन के साथ ही आई संप्रदाय का भी संक्षिप्त इतिहास लिखा गया है।

ग्रंथ का आरंभ कवि ने गणेश वंदना से इस प्रकार किया है —

दोहा

श्री गुरु नाथ गणेश हर, गिरजा गिरा मुकुंद।
आई उम प्रकाश हित, ता पद वंदित चंद ॥

छप्पय

श्री गिरजा सुत सुभग, सुखद गणनाथ सहायी।
एक दंत गज वदन सुमन, मुनि जन मन भायी ॥
मेधा भवन महंत चतुर, भुज अंकुश धारिया।
फरसी कमल त्रिसूल माल, शशि अध कारिया ॥
सिंदूर लसत तन चंद पै, लंब उदर आभा दिये ॥
आई उम प्रकाश हित, चंद व्यास वंदन किये ॥

दोहा

मन वचन कर्म चित बुद्धि बल, ब्रह्म एक उर धार।
आई उम प्रकाश गुन, रचित चंद जयकार ॥
ज्योति रूप विख्यात जस, त्रिभुवन वेद पुरान।
ताकि प्रभुता को लखे, मव जंतु तुच्छ ग्यान ॥

सोरठा

सकल नंद स्वरूप, ज्योति प्रकाश प्रसिद्धता।
अरचित देव अनूप, माया त्रिभुवन ॥मोहिनी ॥
सकल तत्व को सार, या सिद्धा प्रकृति परा।
वेद जन निगम धार, हरिहर विधि इत्यादि भय ॥
आदि निगम ओऊंकार, ज्योति रूप त्रिगुणता जय ॥
निराकार आकार, गुण तिन निरबाध पद।
गुरु बिना ग्यान न पाय, गुरु बिना मोक्ष न पाइये।
वाहि ब्रह्म गुण गया, स्वामी पद शिर नमिये ॥

दोहा

श्री पद कुंज प्रभाव गुन, सकल तत्व को सार।
आई उम प्रकाश का, रचित चंद जयकार ॥
आगम उक्त अंतरस, परम ग्यान शुभ काम।
आई उम प्रकाश को, धरयो ग्रंथ को नाम ॥

इसके पश्चात् कवि ताराचंद ने बिलाड़ा नगर का बीलपुर के नाम से वर्णन किया है।

दोहा

ज्योति रूप जगदीश्वरी, आई मात कहात।
नगर बीलपुर आनंद किये, बिलसे जन सुख लात ॥

छप्पय

पावन बीर प्रसिद्ध, बाँण गंगा बल लायौ।
देव जात उप छबक, प्रकट दरसन दिखलायौ ॥
जज्ञारंभ रचाय, सकल सुर मुनिजन आये।
अड़सठ तीरथ उग्र सिद्ध, साधक सुख पाये ॥
बलराय अंब आई इते, ब्रह्म रूप वरदायिनी।
सुर सरित जोत जाग्रत सदा, ध्यास पथ मनभायिनी ॥
बिलाड़े यज्ञ काज, बाँण गंगा नृप लाए।
तीरथ सकल पवीत्र, देवगण मुनिजन आए ॥
बाहनी होम बनाय, प्रकट हुत भूख अति ज्वाला।
निगम उक्त आहुति, मंत्र द्विज करे जय माला ॥
बल प्रबल भूप विख्यात जग, दान अधिक अतदायने।
किय क्रिया त्रिलोकीनाथ, प्रभु वामन रूप स्वभायने ॥
पूरब दिस शिवलिंग, अष्ट भैरव हणमंता।
दक्षिण दिस गणराज, योगणी चौसठ चहंता ॥
पश्चिम वीर विशाल, देवगण समूह जानौ।
उत्तर उदधि त्रिशक्ति, धरम गंधर्व पिछानौ ॥
अध उरध नवग्रह, थापियत गंगा यमुना सरस्वती।
बिच ब्रह्म यज्ञ आहुत, भूख ज्वाला उत्पति ॥

बिलाड़े का वर्णन करके कवि ने आई माता के मंदिर (बटेर) के तत्कालीन दीवान शिवदान सिंह जी के विषय में कुछ दोहे लिखे हैं—

दोहा सोरठा

गंगा बाण कहाय, नाम थप्यौ बल राजसी।
देवी पुनि बलराय, मंदिर ताहि प्रचंड रचि ॥
साजन से शिवदान, हुकम पाय जगदंब को।
नाहर मेहर निदान, ग्रंथ रचन आरंभ किया ॥

मैरव अस्ट प्रकार, मघवादिक सुर सिद्ध मुनि।
चंद्रन मत व्रत धार, आचार जगत सचन कू॥
गार्वी धीर सुभाष, ज्योति स्वरूप प्रकाश तव।
'आई उग्र प्रकाश', पुस्तक दरसन सुफल है॥
ग्रंथ रचियौ कवि व्यास, सुन बहुभेद प्रसंग धुन।
आई आनंद विलास, कह्यो भवानी दास गुन॥
आगम उक्त सुनाय, ताके भेद प्रभावतें।
चंद्र रच्यौ चितलाय, देवीं विचार विध॥
धरयौ ग्रंथ को नाम, आई उग्र प्रकाश गुन।
फले मनोरथ काम, क्रिपा करि शिवदानसिंह॥

छप्पय

जाहर जंबू द्वीप खंड, तिह भरथ कहावै।
देश सिरोमणि देख, मुरधरा सहुमन मन भावै॥
नगर सिरै योधाण, महापुर जगत सुजानैं।
भूपा मुकुट मंडत मान, नृप सुजस प्रमानैं॥
तिह निकट बीलपुर, अभ्रयेत गादीधर शिवदान है।
दिवाण भाण कुल उद्यत, भौगुन गहिक सनमान हैं॥
आई मात अखण्ड जोत, तित आप विराजैं।
ताहि क्रिपा अनुसार, धरे अवतार सुकाजैं॥
वर दियौ अंब जन जानकें, जोत पात गादी दई।
इह परम धरम सत लीत, सिय वचन सिद्ध आग्या भई॥
तिह गादी शिवदान ध्यान, आलय गुन ग्राही।
लाल नंद लज गेह, अम्ब सेवा मत साहीं॥
पर ब्रह्म जोत अंतर धरहिं, पद निरवांण प्रमाण किय।
ईशाधिकार आनंदयुत, ध्यान धरत द्विज चंद हिय॥

कवि ने अपने पूर्वज व्यास भवानीदास जी का अनुसरण कर आई पंथ की विशेषताओं का और तत्कालीन दीवाण शिवदान सिंह जी बढ़ेर बिलाड़ा का यशोगान किया है। देवी जीजी (बाद में आई माता या आईजी) के विषय में वर्णन करने के साथ ही दीवान गोविंद जी से लेकर तत्कालीन दीवान तक का संक्षिप्त इतिवृत कविता में लिखा है। पुरुष और स्त्री के कर्तव्यपालन की ओर भी कवि ने प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं प्रसिद्ध दानी भक्त राजा हरिश्चंद्र और उसकी पत्नी तारा आदि के उदाहरण प्रस्तुत कर मानवता के सच्चे

गुण बतलाए हैं। आई पंथी लोगों के लिये अहिंसा का पालन आवश्यक कर्तव्य माना गया है। आई पंथ शाक्त मत की एक शाखा है।

कहते हैं कि डाबी गोत्र का क्षत्रिय बीका के घर जीजी देवी (आई माता) का अवतार हुआ था। बाल्यावस्था में ही जीजी की माता स्वर्ग सिधार गई थी। जीजी बड़ी देवी भक्त तथा अति रूपवती बालिका थी। बीका अंबा माता का बड़ा भक्त था। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर देवी ने उसके घर कन्या के रूप में अवतार लेने का वरदान दिया था। आई उग्र प्रकाश में लिखा है—

दूहा सोरठा

विध जुत सेव विशाल, करी पद पूजा ध्यान किय।
अम्ब कृपा उनमाल, बीक रिष पै अति घणी॥

छप्पय

रूप अनूप प्रकाश, अम्ब आई दरसायो।
दियौ दरस महामहाय, बीक रिष अति सुख पायौ॥
बीस भुजा लिय सस्त्र, अभयवर लीने आई।
अद्भुत प्रभा अनंत, किरण रोज प्रभुताई॥
वर देत भई बीका प्रतै, मांग मांग फल अधिक फल।
तू सदा सेव उत्तम करे, ताहित संकट न राख जन॥

दूहा

कर अंगुली प्रनाम जुत, बीकैं सीस नमाय।
कही दरस तब चाहना, देत रहो जग माय॥

छप्पय

भई प्रसन्न अमोघ लहुं अवतार गेह तव।
तोहि तिथा हमु मात पिता तुम कहां सवा भव॥
कन्या हुए कर रहूँ संक मति लाव कदाई।
प्रभुता मोहि प्रत जगत जगत को जाम कहाई॥
मैं भई अनुग्रह तो हिये भक्ति भली विध कीजिये।
पूरब प्रसाद इत आगमन आदि पंथ सुभ लीजिये॥
बीक प्रतै वर दियौ सिद्ध बाचा सरसाई।
कन्या रूप कहाय लिये प्रकृत प्रभुताई॥
रूप अनंत स्वरूप देव सिसुता जिम दरसै।
रंभा सोतन भास कौन उपमा पद परसै॥

आवुस बोल आमल सदा, अवात अनेता जोगणी।
हित भक बीक गृह अवतरो असुरां खला अरोगणी॥

दोहा

सिंध थटे मुलतान सूं, रोड़ी भरवर राम।
गूजर धरा सोरठा लग, दूर से दिखाण आय॥ १ ॥
मांडव घर मध आवणों, भयो अम्बा अवतार।
नद जल सर तरु सघन बहु, बैठे कूपा सार॥ २ ॥
जग जांणे बीका तणी, कन्या रूप अपार।
आदि रूप आदेश्वरी, सदा भक्त जयकार॥ ३ ॥
रूप देख थिरा बसत सबे, हैं कोई देव चरित्र।
मानव कला न जानियो, परमा परम पवित्र॥ ४ ॥
को जाने करतार की, माया जोति प्रकास हित।
अगम निगम विध उच्चरे, अभय अखंडित॥ ५ ॥
धूल न भेद प्रकाशियों, रिष सेवा कृत साध।
गुप्त पंथ जीजी तणो, साधन जोग समाध॥ ६ ॥
त्रिविध रूप दरसाय दिन, बाल जवानी वृद्ध।
लखै न को व्यवहार जग, देत नवे निध सिद्ध॥ ७ ॥
रूप कला कन्या तणी, देख डरे सुर सेस।
मांडव घर असुंराण धणी, गोरी साह जवनेस॥ ८ ॥
पातसाह गोरी तपे, भुज बल वीर अपार।
गज तुरंज जुध स्वारथी, हुक्म लाख असवार॥ ९ ॥
बीका सुता स्वरूप अति, सुणियों साह सुजांण।
अपछर ततत अवतार इह, भरे पदमणी पांण॥ १० ॥
मात लोक सुर लोक मध, पुनि पाताल मंजार।
देखि नहीं काने सुणी, इन समान कोई नार॥ ११ ॥

कहते हैं कि जोजो की सुंदरता पर माँडू (मालवा) का तत्कालीन यवन बादशाह गोरी मुहम्मदशाह आसक्त हो गया था। उसने जोजी के साथ विवाह करने की ठानी थी। जिस पर चँवरी में जीजी ने सिंहनी का रूप धारण कर उसको अपना अलौकिक चमत्कार दिखाया था। देवी के चमत्कार से प्रभावित हो कर मुहम्मदशाह ने क्षमा याचना की और उसका भक्त बन गया था। इस घटना को व्यास तारा चंद ने इस प्रकार वर्णन किया है—

इह वानी सुन पात साह, हरखी मन हुलसाय।
भेजी सात सहेलियाँ, देखन हूँ हित लाय॥

पदशावत कूँ साह कहै, ताहि तभी चिरताय।
हुकम प्रमाणे चंरियाँ, चढ़ि चक डीस चलाय ॥ १२ ॥
मौंडव था दस कोस जिन, अंबापुर सुभ ग्राम।
आई आप विराजिया, सकल रूप की धाम ॥ १३ ॥
द्वादस बरस प्रमाण वय, सुंदर तन मृदु बैन।
परम रूप कौ लख सके, उग्र तेज कज नैन ॥ १४ ॥

छप्पय

चढ़ी सिंघ भवानी प्रबल होय।
उत्कृष्ट क्रोध लोचन भुज बीस रक पाट लिय त्रिसूल।
पतसाह देख भ्रम पड़यौ मुरछा तन लपटी मृत्यु जेम।
छिण सुधा दीठ जगदंब तेम ॥

दोहा

तू जगदंबा जोगणी, ब्रह्माणी वरदाय।
मैं अग्यानी मूढ़मति, निज जन करो सहाय ॥ १ ॥
निज्या धरम सहु देस में, करयौ प्रगट सुलतान।
संत सिधा बहु साचवें, बाचे पुरान कुरान ॥ २ ॥
दोहु मग समतुल गिने, दुविधा रहै न कोई।
ग्यान ध्यान धीरज लिए, पायें लगत सब कोई ॥ ३ ॥
गौरी बड़ सुलतान पे, कृपा अंबा अणपार।
आई पंथ उद्धार जन, सहु जाने संसार ॥ ४ ॥

उपर्युक्त पद्यानुसार जीजी ने गोरी मुहम्मदशाह को चमत्कार दिखाकर तथा उसको शाक्त मतावलंबी बनाया और तब क्रम से १०८ वर्ष तक मालवा और गुजरात की ओर रहकर तथा भारत के पंजाब और काश्मीर आदि प्रदेशों की यात्रा करने के पश्चात् मारवाड़ की ओर आने का विचार किया। देवी जीजी बहुत से हस्तलिखित ग्रंथों तथा अन्य आवश्यक सामान को एक पोठिया (सामान लादने के काम आनेवाला बैल) पर लादकर अपने पिता बीका डाबी के साथ मेवाड़ होती हुई मारवाड़ की ओर आई। मेवाड़ से मारवाड़ आने का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

दोहा

बरस एक सौ आठ, मालवा घर रहाय।
दिखण दिस थिरता करी, बहुजन उद्धारे आय ॥ १ ॥

मुरधर दिस चित अंबधर, बील नगर निज धाम।
मग मेवाड़ पधारणो, संत सुधारण काम ॥ २ ॥
रहें मास मेवाड़ षट, गुप्त सिद्धता धार।
बीक संग कीनो सदा, आड़ावले थिर सार ॥ ३ ॥
गिर प्रचंड की तलहटी, डायलाणे शुभ थान।
देवी पुरी निज जानि के, जीजी वड़ प्रगटान ॥ ४ ॥

छप्पय

जीजी वट दिखनाम, सिभू तरु सुखद सुहायौ।
सुरगण सिद्ध सुसाध वीर बावन जुत छायौ ॥
चौसट जोगण रमें जमें, इंद्रादिक आगे।
बैठे छांही निकाह मीच दुकृत भ्रम भागें ॥
इण विध अखंड वट अंब कीय दरसण सम।
पूजियाँ महाफल होय जन आई मुख उच्चार इम ॥

दोहा

इण विध बड़ उद्धार किय, हरे कष्ट अति भार।
अब पधारे बीलपुर, प्रगट लखें संसार ॥

सोरठा

बिलाड़े बसिवाय, गंगा बाण सुहावणी।
आई तन मन भाय, जाण्यो सुभपुर अंत में ॥ १ ॥
सरिता सुभ बहंत, अथग नीर आभा दिये।
पाद पस दल अनंत, देखे द्रिग थिरता भई ॥ २ ॥

मेवाड़ में छह मास पर्यंत रहने के पश्चात् देवी जीजी ने गोड़वाड़ क्षेत्र के डायलाणे नामक ग्राम मे हलों को बड (वट) वृक्ष के रूप में बदलकर अपनी योग विद्या का परचा (चमत्कार) दिया। पाली जिले के उक्त डायलाणा नामक ग्राम में उक्त जीजी वड़ अभी तक विद्यमान है। डायलाणा ग्राम भूतपूर्व मेवाड़ राज्य द्वारा 'आई माता' को भेंट किया गया था।

मेवाड़ से मारवाड़ मे बिलाड़ा आने तथा यहाँ पर उस समय के अधिपति का नाम तथा आईजी का यहाँ के तत्कालीन जागीरदार भारमल जी के प्रधान कार्यकर्ता (कामदार) जार्यो जी के पुत्र माधोजी (माधव जी) के बारे में सभी सूचना देना आदि बातों का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है।

वंशावली

दोहा

कुँवर भारमल कर कृपा, आशा प्रते बुलाय।
दियो प्रधानो दिल खुशी, सचिव मंत्र हित लाय॥
राज काज बहु कुरब दै, हुवे प्रधानो सिद्ध।
भारमल मल भाव जुत, आशा प्रते प्रसिद्ध॥
राजस भाली नै सुजस, नगर बीस निज राज।
भारमल के सचिव भणि, सहु कृत राज सुकाज॥
कमध कुलो रवि बंस मैं, धूहड़ राय सधीर।
धूहड़ रै चंडेस भो, ताहि चांद रन बीर।
ताहि अजैसीं सुत भयो, बापल ता सुत बंग।
बंग सुतन बाघों भयो, ताके धारड़ अंग॥
धारड़ सुत बस्तौ भयो, बस्ता सुत जालेस।
आशा सुत माधो कहे, ता गोयंद कहेस॥
तिण अंसन मैं आशसीं, भयो अधिक प्रताप।
राजकुली राठोड़ मैं, जाकी दल दिल ताप॥
तिण आशा के तीन सुत, माधव कहूँ न दीठ।
आपस मांहि विरुद्ध हुए, चल्यो उठ अकुलाय॥
प्रात भयो भई सोच सुत माधव कहूँ न दीठ।
दूत दिये तेड़ाय बहु, कोउ न लगे सहीठ॥
सहु पच पच के चुप रहे, कहूँ न लगे पग हाथ।
मात पिता अति शोक मैं, अवरन जाके साथ।
माधव गयो जितरामपुर, राय निकट रह बास।
बालक कोमल बुद्धि लख, राव रखियौ निज पास॥
दे उमराव मुरातबों, अरब सुभट गाम।
दौड़ायत अरिगन सदै, गए अपने थे धाम॥
कमध बंस राठोड़ को, तेज प्रताप अपार।
रीझे राव कृपालु हुए, दियो बधारो सार॥
पितामात दल बहु झुरे, पुत्र मोह के काज।
सुत बिन उदास भीत अम, निस दिन बदन अवाज॥
ताहि समै निज भक्त हित, आकल भयो अगमात।
पूर्व दास प्रभाव तैं, आई मात प्रभात॥

संवत पनरे से बरस, इकवीसे इत आय।
भादव सुदि दुतिया तिथि, वार सनिसर भाय॥
प्रात समै आवन भयो, रिष बीका सों साथ।
वृद्ध रूप पुनि पीठ इक, लिये त्रिसुल निज हाथ॥
जय जय शब्द पुकार जिय, सुर नर हरष कराय।
अंबा आई बीलपुर, नीम निकट बैठाय॥

छंद

वट पाव थाट कुटिया बनाय। रिष बीका करें सेवा सुभाय।
बड़हेर (बढ़ेर) नाम दीध। कर आप अखंडित जोति कीद्ध॥

जिस समय (अर्थात् वि० संवत् १५२१) के भादवा सुदी २ द्वितीय शनिवार के दिन आई माता अपने पिता को साथ लेकर एक पाठिया सहित वृद्धा का रूप बनाकर बिलाड़ा में आई उस समय बिलाड़ा राय जोधाजी के पुत्र भारमल जी का राज्य था। जाणोजी जो उन्हीं के निकट संबंधी थे, भारमलजी के कामदार थे। जाणोजी राठौड़ के माधव नाम का एक मात्र लाड़ला पुत्र था। किसी कारण वश अपने पिता से रुष्ट होकर माधव घर से निकल कर चलता बना और घूमता घामता मालवा के तत्कालीन रामपुरा राज्य के राजवी के दरबार में आ पहुँचा। वहाँ पर उसकी योग्यता से प्रसन्न होकर माधव को जागीर प्रदान की और अपना उमराव भी बनाया। इधर जाणो जी और उनकी पत्नी अपने एक मात्र पुत्र के बिना चिंतित थे और उन्होंने उसकी खोज कराने के लिये आदमी इधर उधर भेजे। जब आई माता बिलाड़े आई और जाणोजी की पोल में रहने लगी तो बातों ही बात में माधव के गुम हो जाने की बात सुनी। इस पर देवी ने जाणोजी और उसकी पत्नी को धैर्य प्रदान कर कुछ ही दिनों में उसके बिलाड़े लौट आने की बात कही जिससे उस दम्पति को कुछ संतोष हुआ। अंत में देवी के बचन के अनुसार जाणोजी का पुत्र माधव रामपुरे से पीपाड आई बरात के साथ बिलाड़े पुनः लौट आया। बहुत दिनों से बिछड़े हुये पुत्र को पाकर जाणोजी और उनकी धर्म पत्नी बहुत प्रसन्न हुए। उस दिन से आई माता की मान्यता बढ़ी और लोग उसे एक चमत्कारी देवी मानकर उसकी आज्ञानुसार चलने लगे तथा उनकी बातों पर विश्वास करने लगे। जाणोजी तथा उसकी पत्नी और माधव जी सभी जन आई जी की सेवा चाकरी में उपस्थित रहने लगे। आईजी अखंडि ज्योति स्थापित कर ईश्वर आराधना में लीन रहने लगी। आई-उमप्रकाश में कवि ने उपर्युक्त बातों का संक्षिप्त रूप में वर्णन किया है—

जाणोजी द्वारा आईजी से निवेदन —

छप्पय

माधव मेरो पुत्र तहू निकस्यौ गृह बाहिर।
बहु दिन बीतें ताहि कहूँ पायौ नही जाहिर॥
× × × ×
अब बिना पुत्र को जीव कोह जगदंबा जानिये।
तब कृपा अनुग्रह होय तब अंगज हमु ढिग आनि॥

इस पर देवी आई माता अथवा जीजी कहती है—

पुत्र मिल तत्काल, जाण धर धीरज तन में।
वांछित फल हुए अधिक सदा सुख संपत मन में।
जाण तू निज भक्त पुत्र अब माधव आवे।
भई कृपा तव वंस राज पदवी इम पावे।
संतोष राख द्रिढ़ता लिये वर अमोघ मेरो भयो।
जग वंदे तोहि कुल चंड सुत दुख दालिद्र तेरो गयो।

दूहा

बिलाड़े बलिराय के, आई बिराजे आय।
जोधाणों जोधो नृप पति, कमधज राज कराय॥ १॥
कूंभो कुंभल मेर जिन, जाणों आसज काज।
दिल्ली असपति साह मिल, सहु दुनिया सिरताज॥ २॥
मोकल सुत महाराण रज, कुंभ करण दातार।
शासण दियण गजां तुरी, अेकलिंग अवतार॥ ३॥
इह महा इकलिंग प्रभ, धीरज ध्यान धरंत।
पतसाह डरलाल घण, राजस करत अनंत॥ ४॥
उभय कर लोक भणे, उदैसिंघ रायमल्ल।
महावीर जुध स्वारथी, जगत कहे सहु मल्ल॥ ५॥

बिलाड़े आने के पूर्व देवी जीजी अथवा आईजी से मेवाड़ का राजकुमार रायमल अपने पिता द्वारा निर्वासित होकर सोजत में जाकर मिला था। आईजी के वरदान से रायमल को मेवाड़ का राज्य शीघ्र ही मिल गया था। जिसके कारण रायमल भी आईजी का भक्त बन गया था और उसने गोड़वाड़ में डायलाणा ग्राम भेंट किया। माधव जी रामपुर से बिलाड़ा लौटे इस बात का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

दूहा

आंण अरज बहुरे करी, आई सु अकुलाय।
माधव अंगज मिलन की, अति अभिलाषा कराय॥

तेरो पुत्र प्रयाण कर, आवहिंगों अब पेथ।
मन वंछित सह कामना, सफल होय जगु जेथ॥
रामपुरे इक वैश्य इक, नगर सेठ पद ताहि।
ताके पुत्र प्रतापसी, पुर, पीपाड़ विवाहि॥
माधव संग बरात के, भेजियौ राव अभीत।
गज तुरंग रथ सुभट लिय, किये प्रयान नवीत॥
मुरधर दिस आवन भयो, अब कृपा अनुसार।
डेरा पुरा सेहवाज किय, जित पितु भगनी सार॥

छप्पय

आतज मूवा मिलाप, भयो लोचन भर आप।
बिछुड़ियाँ बहु दिन भए अब दरसण पाए॥
सिघ्र लियो पुर बीच मात पितु चरने लागे।
परमानंद प्रकास सोक चिंता दुःख भागे॥
तत्काल लगे आई सू पदमन वंछित आसा फली।
जबसौं सामघ पुनि मान मिल अंबा सहु पूरी रली॥

दूहा

अब दियो वर माधव पे, तू द्विज पंथ प्रधान।
धरम धुरीण प्रसिद्ध जग, व न अचल द्रिढ़ ग्यान॥
आग्या ले जगदंब की, साह संग पीपाड़।
पाणि ग्रहण कराय कें, गए देस मेवाड़।
रामपुरा के राव बहु, भयो प्रसन्न अपार।
आदि सगत आदि कथा, माधव कही विस्तार॥
सीखकरी मघराव ये, दियो बिदा, सिरपाव।
गज तुरंग सुखपाल पुनि, आदर दे अति भाव॥

छंद पद्धरी

कर सीख चढ़े माधो कुमार।
शुभ शुकन भए अंब अनुसार॥
योगनी पूठ संमुख मयंक।
कुशलालय जोबक हुय असंक॥
मुद गोद लिए जसवा पूजाय।
नवरंग वसन भूषण बनाय॥

तिय जुथ सबद मंगल कहात।
दुंदुभी नगारे बजाते जात॥
सिर तिलक कुँवारी कन्या कन्यकाय।
जल कुंभ सीस पूरण सुहाय॥
दाहिनी देव बोली सुबोल।
उत्तम अनंत सौंनण बिसेस॥
उछरंग कर माधव प्रयान।
पुर बिला आय जित अंब थान॥
पितु मात अंब पाए लगाय।
कर धूप ध्यान पद छवक पाय॥
बिनती करन लगे बिसेख।
मन मुदित भए जगदंब देख॥
निस दिवा सुध चित करे सेव।
गहापि पुहुप नई बेद भेव॥
सिद्ध साध नार नर मिलत सोय।
निज पंथ जपे जागरण होय॥
गुरु हुकम सीस दुविधा नहि कोय।
भ्रम भ्रांत साध मग देत खोय॥
लिवार धरम संविचार साध।
हिल जावें पाठ जाई अराध॥
इन राह चलत माधव सुजाण।
सत् सील साधना करत प्राण॥

आआजी से मिलकर माधव फिर रावपुरा के राव के पास गया। वहाँ राव ने उसका खूब आदर सत्कार किया और जागीर प्रदान की। तत्पश्चात् पुनः वह अपने माता पिता के पास बिलाड़ा चला आया। देवी आई माता के आज्ञानुसार वह भक्ति की साधना में लग गया। फिर देवी की आज्ञा से ही माधव ने अपना पहला विवाह सीरवी जाति में पँवार गोत्र के हांबड़ बीलाजी की पुत्री सोढ़ी के साथ किया। इस बात का और सीरवी जाति की उन्नति का संक्षिप्त वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

दूहा

पाणि ग्रहण पहला करयौं, सोढ़ा साखा पँवार।
सीरवियाँ सगपण करौं, आई एम उच्चार॥

माधवो वाच

अंब हुकम सिर ऊपरे, कवण सीखी साख।
गीत वरण आभम कहीं, अंबा मुख तें आख॥

आई उवाच

कुल उत्पति तोने कहूँ, सुण माधव चित धार।
विप्र आदि चारों वरण, रच धाता संसार॥
क्षत्री कुल में प्रगटना, धरा थंभ रणधीर।
यामें भेद न जानिये, जुध स्वारथी बड़ वीर॥
सोपन गढ़ सिर कोप किय, अलावदीन सुलतान।
रजपूतों साका किया, विरचो मयो राजाँण॥
भाज गया केता भिड़े, अमल कियो असुरांण।
छोड़ धरा जालोर दिस, मुरधर पले जु आँण॥
लकड़ी जोते सात सौ, सरिता लूणी आय।
सीर करे हल साहियो, खेती अन्न निपजाय॥
बड़ साखाँ सोळह बड़े, सूर वीर दातार।
सीर कियो तब सीरवी, लहु दाखै संसार॥
असल जात रजपूत हैं, मैं समझाऊँ तोहि।
अंतर इनसें न करो, सत्त भक्त जे होई॥
सुन माधे संतोष किय, आग्या अंब प्रमान।
आई पंथ मिलाय के, नमन किये सुथान॥
आदू जड़े सीरवी, कुल हांबड़ था धनवंत।
डोडो हाथ बँधावने, सोधिया कीनो संत॥
हांबड़ बीनी जग सुतन, जिनो विसेस बताय।
सुत पोता इक कन्यका, सोढो नाम कहाय॥
जयकुंवरी सोढी अवल, वरस एक दस बीत।
लगपग माधे सू कियो, अंबा हुकम अभीत॥
लगन मुहूरत थापने, दलहु कीध निकार।
वेद ज्ञात अरु धाम कह, पंडित वेद विचार॥
परणों मधकर प्रेम सूं, राज सरंग अपार।
पिय त्यागी पावन सदा, इष्ट धरम आधार॥
सोढ़ी के सिर हस्त दिय, अब कहया सुत होय।
जग विख्यात प्रताप हुय, उम तेज तन जोय॥

पनरे सौ पच्चीस में, परणें मधकर राय।
तीस बरस प्रकास अग, गोयंद जन्म कहाय ॥
भयो द्वादस बरस में, गोयंद परणें आय।
मूलेवी चहुवाण नख हापा सुता सुजाय ॥

आईजी की आज्ञा से माधवजी का विवाह सीरवी बीलाजी हामड़ की कन्या सोढी के साथ वि० सं० १५२५ में किया गया, जिसके गर्भ से गोयंददास नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका भी विवाह आई माताजी की आज्ञा से सीरवी हापाजी मुलेवा की पुत्री के साथ हुआ। अस्सी वर्ष की आयु के उपरांत जाणोजी राठौड़ का देहांत हुआ। उस समय आई माताजी की आज्ञा से माधवदास जी ने 'हाल' नामक मृत्यु क्रिया संपन्न की यह क्रिया आई पंथी डोरा बंद (चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो) की मृत्यु होने पर दाह संस्कार के पूर्व करनी पड़ती है। गुड़ की लापसी बनाकर एक व्यक्ति जो मृतक का निकटवर्ती संबंधी हो शरीर से अंगरखी पृथक् कर आईजी बढेर (मंदिर) जाता है और वहाँ पाट (जहाँ घृत का दीपक जलाया जाता है) के समक्ष थाली रखकर 'हाल' का मंत्र अथवा जाप बोलकर लापसी भिखारी को या कुत्तों को डाल देता है। तत्पश्चात् दाह संस्कार किया जाता है। कवि ताराचंद जी ने आई-उमप्रकाश में 'हाल' का इस प्रकार वर्णन किया है--

छंद

घर बैठा जन दंषा आय मिला कृपा कीनी।
सहु कारज संसार पाप मोती गल लीनी ॥
तज देहु चले निरदोष हुय ध्यान समाधि लगाय के।
पुर स्वर्ग पौहच कन अंबहित गये देव पद पायके ॥
जीव चले लत एक साध संगत उर धारे।
धरम परम आचार जप रा शब्द उच्चारें ॥
कर लापसी पंच धार पूर कांसे पधरावे।
चलन हित आन प्रथम गुरु ने पहरावें ॥
इण पथ हाल विध सू करें आई आप अपणायने।
अब प्रते अरदास माधे कीनी मन रंजन ॥
जाय सिद्धि सुरग राज पद अथ के भजन।
हाल करो हुलसाय जेम जय दूत न व्यापे ॥
बिन क्रिया हाल गत नही मिलें प्रेतगति पावे सहि।
गुरुमुखी होय साधे क्रिया माल सुणे माधे कही ॥
अंबा होय प्रसन्न हाल चहु विध।
शुभ हूअ सनिवार भयो आसीस जु दीनी ॥

भरे थाल नई वेद वसन आभूषण अरपे ।
मगध भैंष हय नाजवान अन जे निज करपै ।
कर दीन भक्त संविचार दिध लाख सुज्ञ्यज्ञत धारना ।
निज तात हित माधे मध कमव जल पार उतारना ।।
जाख है अनतार कुमध माधव मन रंजन ।
गादी बैठो गरज करे अरियाँ भय भंजन ।
बाबा सिद्ध के कांणा कथिया अधिकारी ।
सुख संपत आगार ध्यान धारण ब्रतधारी ।।

जाणाजी के बाद माधवदास अपने पिता का उत्तराधिकारी बना । कुछ वर्षों के पश्चात् माधव जी भी स्वर्ग सिधारे । उनके स्वर्ग सिधार जाने के पश्चात् वि० सं० १५५७ के माघ सुदी २ शनिवार के दिन आई माता ने गोयंददासजी को अपना दीवान (मुख्य पुजारी) घोषित किया तथा तिलक किया । जैसा कि लिखा है—

दूहा

म्हारे गादी पुत्र तू, गोयद सुण सुख पाय ।
देवी री दीवाण पद, दीनो तव चित्त लाय ।।

इसके अतिरिक्त आई माता ने गोविंददासजी को गुरु की महिमा इस प्रकार बतलाई—

दूहा

गुरु कीजै गुण आँणने, निरलोभी निरवाण
जोग पंथ जाग्रत कला, परमारथ मग आण ।।
सिद्ध कला साधक लिये, आत्म ग्यान विवेक
ध्यान समाधि धारणा, लहु जाणे ब्रह्म अेक ।।

छंद त्रिभंगी

गुन सकल सुग्याता मूरतधाता मंत्र सुदाता जन मोहीं
परब्रह्म परायण सिवनारायण जन मन भायण तद सोहीं ।।
करपे जपे माला वाक विसाला सुधा प्रनाला सुखसाला ।
रत पंकज लोचन अघ के मोचन तन मैं लोचन मतवाला ।।

सिर भस्मी लगावे हरिगुण गावे धरम बतावे व्रतधारी ।
त्यागी तिहि ममता जिय मैं समता इंद्रिय दम लाज बिसारी।।
परभूमि प्रवेश न लेन लेसा मगवे भेसा अनुरागी ।
आतमज चिन्यासी ध्यान हुलासी अविनासी ।।

जप तप आति हांडी ब्रह्म विचारीं ध्यान निकासी कवा।
निरगुण निरबाँणी अनुभव वाणी सुविध विकाड़ी दूर कदा ॥

× × ×

सिर प्राण चढ़ावे ब्रह्म मिलावे त्रिकुटी आवे सिव सगती।
कुंडली ध्यावे उरग प्रभावे तड़ित जनावें तंतुकती ॥
हित जोग आराधे समाधि साधे पंथ अगाधे सिद्ध करे।
ईह जीवन मुक्ति आगम उक्ति रहनी जुक्ति प्रान धरे ॥

गुरु और शिष्य तथा साधु महात्माओं के गुणों अथवा लक्षणों को बताकर आईजी ने दीवान गोविंददासजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर समस्त डोराबंद सेवकों को उसकी आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने को कहा। इसके अतिरिक्त आई माता ने 'दीवाण गोविंददासजी' को योग विद्या की भी बहुत सी बातें बताकर अंतर्धान होने का विचार किया। इसके लिये वे अपने निवास अथवा ध्यान करने की साल में पश्चिम की ओर मुँह कर घृत का दीपक जलाकर ईश्वर आराधना में बैठ गईं। अपने भक्तों ('बाँडेरु' या गत डोराबंद सेवकों) को अपना अंतिम उपदेश सुनाकर साल के किवाड़ सात दिन तक नहीं खोलने को कहा। सात दिन के पश्चात् जब आई माता की साल (भजन करने की कोटड़ी) के किवाड़ खोले गए तो वहाँ केवल दीपक की ज्योति के ही दर्शन हुए। आई माता ने समाधि ले ली और अलोप हो गई। यह घटना वि० सं० १५६१ चैत्र सुदी २ शनिवार की है। आईजी ने अपने पंथ संबंधी जो जो आवश्यक बातें बताईं वे इस प्रकार हैं—

दोहा

गोयंद म्हारो रूप छै, याको दरस कराय।
कथामृठ पूरहु कलस, हमु पूजा करे सुभाय ॥ १ ॥
पावन रोटी प्रथम फल लो इनका लो लाय।
तिको भोग मेरे लगे, साध सुनो सुख पाय ॥ २ ॥
गोयंद मेरो पुत्र है, बहुरे शिष्य सुजान।
यामे मोमें भेद नहिं, जानहु साधु प्रमान ॥ ३ ॥
या किपा विध साध जन, फले मनोरथ काग।
जन्म जन्म के अघ कटे, भजहुँ जोति अठ जाम ॥ ४ ॥

छंद

गादी बैठे ताहि मोहिं समझहु जिय जानो।
इनके बचन अमोघ सत्यकर हिरदे आनो ॥

अपरवंम भव दुख दहक जिया दहकावें।
ताकों संग न कव हु कदाचित मूल मरमावें॥
हूं सदा सरवदा भक्त हित सावधान रव्य करन।
दिव जिसा ध्यान हमु रूप धर ताहि कष्ट दुकृत हरन॥

दोहा

जिन जन साधु पिछान हित, दिस्यौ ग्रंन विचार।
रच्यौ सूत को डोरड़ो, ग्रंथ एक दस धार॥ १॥
आई भक्त निजार धर्म, याम्रे सहनांण प्रसिद्ध।
गुरु मंत्रे सब साखड़ीं, ग्रंथ एक दस विद्ध॥ २॥
दस अवतारे ग्रंथ दस, एकादस हनुमान।
धूप खेवन नरकर सले, जिया लिय बलमान॥ ३॥
डोरौ आई हुलस चित दियो प्रथम गोवंद।
दाहिन कर नर बाँधजे, कंठे जिया अमंद॥ ४॥

आईजी ने अंतर्धान (समाधिस्थ) होने के पूर्व भक्तजनों से गोयंद को उसका ही स्वरूप समझने, तथा कच्चे सूत का ग्यारह गाँठ का डोरा पुरुष के दाहिने हाथ पर और स्त्री के गले में बाँधने को कहा।

इतना ही नहीं आई जी ने अपने डोराबंद बाँडेरुओं से यह भी कहा कि गोयंद तथा इसके पश्चात् इसके वंशज दिवाण जैसी आज्ञा दें उसी का पालन करना किंतु उसका अनुकरण कभी मत करना, आई पंथी डोराबंद से भेद भाव कभी मत करना तथा झूठ मत बोलना, हिंसा कभी मत करना, कभी नशा नहीं करना आदि अनेक उपदेश दिए।

देवी आईजी पढ़ी लिखी थीं ऐसी लोगों की धारणा है क्योंकि देवी के समय की कई हस्तलिखित पंजाबी, बंगला और कश्मीरी आदि भाषाओं और लिपि में लिखित पुस्तकें बढ़ेर बिलाड़ा में अभी तक पाई जाती हैं।

आई माता के अंतर्धान होने तथा दीवाण पदवी देकर धार्मिक क्रियाएँ करने के आदेश का वर्णन आई-उम्रप्रकाश में विस्तार से लिखा गया है। कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है—

दूहा

संवत पनहरें सो इगसठे, चेत मास सुद बीज।
वार सनिश्चर शुभ घड़ी, चढ़ते दिन तिण तीज॥ १॥
तिण वेला आई भई, अंतरध्यान विलीन।
जोत भई दुय जोगणीं, देवलोक गव कीन॥ २॥

पुस्तक झोली अरु छड़ी, अंचल चीर अनूप।
मदुर चरण रख मोजड़ी, गादी पर रहि सूंप॥ ३ ॥
गोयंद भुज सिर भार हिय, गादी पति कर सेतु।
पदवी दई दीवाण कह, सिसु किय कृपा समेतु॥ ४ ॥
साल मांहि गोयंद सहित, बैठे साथ अहमंद।
वचन भणे कांसा करे, ध्यान कथे गुण कंद॥ ५ ॥
या विध बीते सत दिन, दरसण अति अभिलाख।
द्वार खुलन जन हरख हुत, शीघ्र शीघ्र हद दाख॥ ६ ॥

सोरठा

खोल कपाट कहाय, नभवाणी जगदंब किय;
गोयंद मन सुख पाय, निकट रहूँ तोरें सदा॥ १ ॥
गादी निकट सुमाँन, सुधा अतर, सुवासना।
पुह पनगंध समान, बास चलत मलयागिरी॥ २ ॥
पुनि भरमण झिणकार, रिमझिम नुपूर बाजत जिम।
अनहद के आकार, सून्य मांहि बाका बजें॥ ३ ॥

व्यास ताराचंद जी ने आई-उग्रप्रकाश में देवी के अंतर्धान होने तक का वर्णन करने के बाद अंत में दीवान लखधीरजी से लेकर तत्कालीन दीवाण शिवदान सिंहजी की नामावली और दिवाण रोहितासजी का हाल लिखा है। पश्चिमी मारवाड़ (थली) में और गुजरात आदि स्थानों में जाकर दीवाण, रोहितास जी द्वारा 'आई मत' का प्रचार करना तथा तत्कालीन जोधपुर नरेश महाराजा उदयसिंह जी को परचा (चमत्कार दिखाना) आदि घटनाएँ विस्तृत रूप से लिखी हैं। बिलाड़ा बदेर के दीवान वंश में रोहितासजी बड़े चमत्कारी और वीर दीवान हुए हैं।

*

मध्यकालीन वीरकाव्य और इतिहास

राजमल बोरा

•

हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकालीन वीरकाव्यों के नायक प्रायः ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं, अतः इस साहित्य का अध्ययन इतिहास के आलोक में किया जा सकता है। इसी दृष्टि से यह अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न है।

भारतवर्ष के इतिहास का अवलोकन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि 'इतिहास ज्ञान' की ओर इस देश की जनता ने कम ध्यान दिया है। आज भी देश के व्यवस्थित इतिहास लेखन की आवश्यकता बनी हुई है। भारतवर्ष के लंबे समय तक पराधीन रहने के अनेक कारणों में एक बड़ा कारण यह भी है कि भारतवासी अपने पड़ोसियों के इतिहास को नहीं जानते थे। किसी राष्ट्र को यदि अन्य राष्ट्रों का नेतृत्व करना हो तो उसके लिये अन्य राष्ट्रों के इतिहास से परिचित होना आवश्यक है। ऐतिहासिक बोध के आधार पर ही कोई राष्ट्र अपनी चेतना का विस्तार अतीत में और वर्तमान समय में भी कर सकता है। भारतवर्ष की स्थिति तो यह है कि उसे अपने ही देश के व्यवस्थित इतिहास की जानकारी नहीं है। विदेशों के संबंध में कितना ज्ञान है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यह आज की बात नहीं बल्कि उस समय की बात की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिस काल के वीर काव्यों के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न इस निबंध में किया जा रहा है। इतिहास की ओर इस उपेक्षा के कारण ही हम आज अनेक ऐतिहासिक तथ्यों से अपरिचित रह गए हैं। गत एक हजार वर्षों का इतिहास भी भारतीयों द्वारा कम और विदेशियों द्वारा अधिक लिखा गया है। इसीलिये आज इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता बनी हुई है।

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'वस्तुतः इस देश के इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिखा गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवीशक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है—जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है—जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के

पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्‌भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्‌भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभांडार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रँगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।"[1] द्विवेदीजी के इस कथन को स्वीकार करते हुए भी अनेकों ऐसे काव्य ग्रंथ हिंदी में मिलते हैं जिनकी ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। रासो ग्रंथों के लिये द्विवेदी जी का कथन बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है। प्रेममार्गी कवि जायसी के पद्‌मावत के संबंध में एवं इसी प्रकार के अन्य काव्यों में भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव मिलता है। किंतु रीतिकाल में लिखे गए वीरकाव्यों में यह बात सर्वथा सत्य प्रतीत नहीं होती। रीतिकालीन वीरकाव्य रासो काव्यों की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट हैं। डाक्टर टीकम सिंह तोमर ने अपने ग्रंथ "हिंदी वीर काव्य' में १६००–१८०० ई० के बीच लिखे गए हिंदी वीर काव्यों की ऐतिहासिकता पर विचार किया है। तोमरजी ने केशव, जटमल मतिराम, भूषण, मान, गोरेलाल, श्रीधर, सदानंद, सूदन, गुलाब, पद्‌माकर, एवं जोधराज द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक नायकों से संबंधित वीरकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उन ग्रंथों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। जहाँ तक घटनाओं का संबंध एवं पात्रों का विवरण है, वह इतिहास के अनुकूल है, कुछ उदाहरण—

केशव का वीरसिंहदेव चरित

'केशव विरचित वीरसिंहदेव चरित की ऐतिहासिकता पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें वर्णित प्रायः सभी विवरण ऐतिहासिक हैं। डाक्टर बेनीप्रसाद जैसे इतिहास विशेषज्ञ का इस ग्रंथ को ऐतिहासिक दृष्टि से एकदम हेय एवं तुच्छ अतः त्याज्य मानना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। सच बात तो यह है कि नीरक्षीर विवेक से कवित्व को इतिहास से पृथक् कर देने पर 'वीरसिंहदेव चरित' नवीन मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री पाठकों के सामने रखता है, जिसका दिग्दर्शन अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है।'[2]

१. संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं नामवरसिंह, पृ० १०।

२. हिंदी वीरकाव्य, डा० टीकमसिंह तोमर, पृ० १२०।

भूषण

'इस प्रकार भूषणकृत रचनाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पश्चात् यह परिणाम निकलता है। कि उन्होंने अपने काव्य के लिये ऐतिहासिक घटनावली का ही आश्रय लिया है, उन्होंने मुक्तक रचना की है इसलिये घटनाओं के क्रम में व्यतिक्रम आ गया है......भूषण ने घटनाओं की तिथियों का उल्लेख नहीं किया है, पर इतिहास की सहायता से उन घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन करने से ऐतिहासिक ज्ञान के क्रमिक विकास की जानकारी हो जाती है।'[3]

लाल का छत्रप्रकाश

'ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने के उपरांत यह परिणाम निकलता है कि छत्रप्रकाश में केवल एक ही तिथि दी गई है, अन्यथा उसमें सन् संवतों का अभाव है। घटनाओं के रूप में यत्र तत्र व्यतिक्रम पाया जाता है। यद्यपि सभी घटनाओं की परीक्षा करने के लिये पर्याप्त सामग्री का अभाव है, तो भी जिन घटनाओं की परीक्षा की जा सकी है, उनमें से प्रायः सभी मूलरूप में इतिहासानुकूल है।'[4]

इसी तरह अन्य कवियों के संबंध मे भी समझा जा सकता है, यह ठीक है कि ये काव्य ग्रंथ हैं और कवित्व गुणों से युक्त कल्पना का इतना प्रचुर उपयोग है, घटनाएँ आगे पीछे हो गई हैं और घटनाओं का बार बार उल्लेख हो गया है किंतु ऐतिहासिकता उनमे है। रासो ग्रंथों की तरह इनकी ऐतिहासिकता के संबंध में मतभेद नहीं है। अतः ये काव्य संदिग्ध नहीं हैं।

हमारे यहाँ जब ऐतिहासिक खोज प्रारंभ हुई तो उसमें काव्य ग्रंथों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया और सब जगह से प्रमाणित तथ्यों को बाद में काव्य में खोजा गया। इसीलिये काव्य ग्रंथों के आधार पर इतिहास की खोज नहीं हुई। हाँ, इतिहास के आधार पर काव्य ग्रंथों को परखने का प्रयत्न किया गया। रासो काव्यों के संबंध मे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है—'प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर थोड़ा बहुत विचार हो सकता है। उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।'[5] शुक्ल जी ने यह बात

३. वही, पृ० २३७।
४. वही, पृ० २८७।
५. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल (नौवाँ संस्करण), पृ० २१।

ऐतिहासिक आधार को लेकर ही कही है। प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता का प्रश्न ऐतिहासिक ही है। और फिर रचना की प्रामाणिकता के साथ साथ रचना में ऐतिहासिक वृत्त हो तब तो उसकी प्रामाणिकता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। काव्य की परीक्षा का मापदंड इसी लिये और बातों के साथ साथ ऐतिहासिक भी हो गया। यह बात आदिकालीन वीरकाव्य के लिये जितनी उपयुक्त है, उतनी मध्यकालीन वीर काव्यों के लिये नहीं। किंतु मध्यकालीन वीरकाव्यों का अध्ययन भी ऐतिहासिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया। यहाँ भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रमुख रहा अर्थात् काव्य की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को परखते समय इतिहास के अन्य प्रमुख स्रोत महत्वपूर्ण रहे और काव्य कम। इसी लिये थोड़ा भी संदेह हो जाने पर कृति को इतिहास के अनुकूल नहीं माना गया। भूषण की कृति को ही यदुनाथ सरकार ने इतिहास के लिये अनुपयुक्त कहा है।[६] डाक्टर बेनीप्रसाद ने वीरसिंहदेव चरित को ऐतिहासिक दृष्टि से हेय, तुच्छ एवं त्याज्य माना है[७] जब कि तथ्य इसके विपरीत है। डाक्टर टीकमसिंह तोमर ने वीरकाव्यों की ऐतिहासिकता की प्रामाणिकता पर विचार करते समय काव्यों में आए पात्रों का विभाजन दो रूपों में किया है। एक निश्चित पात्र और दूसरे अनिश्चित पात्र। यहाँ निश्चित पात्र वे हैं, जिनके नाम इतिहास ग्रंथों में मिलते हैं या ऐतिहासिक दृष्टि से जिनका उल्लेख अन्यत्र मिलता है और अनिश्चित पात्र वे हैं, जिनका उल्लेख इतिहास ग्रंथों में नहीं मिलता। प्रश्न यह है कि इनकी अनिश्चितता को निश्चितता में कैसे बदला जाय? अब तक के अध्ययन का निष्कर्ष एक प्रकार से यह रहा कि काव्य मे आए हुए वे पात्र या घटनाएँ या विवरण जो अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों मे भी मिलते हैं या ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित मान लिए गए हैं, उनको ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक स्वीकार कर लिया जाय किंतु जिनके उल्लेख केवल काव्यग्रंथों मे हैं और उनका कोई अन्य ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता है तो वे संदिग्ध बने रहें या अनिश्चित। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जैसे इतिहास के आधार पर काव्य की परीक्षा की गई, वैसे काव्यों के आधार पर ऐतिहासिक वृत्त लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया। अतः अब इस ऐतिहासिक वृत्त की परीक्षा या समीक्षा इतिहास के आधार पर की जानी चाहिए। आदिकालीन वीरकाव्यों की तुलना मे मध्यकालीन वीरकाव्य इतिहास के लिये प्रचुर

६. शिवाजी, यदुनाथ सरकार, पृ० २११।

७. हिस्ट्री आव् जहाँगीर, भा० १, पृ० ५३ (पाद टिप्पणी)। उक्त उद्धरण हिंदी वीरकाव्य, टीकमसिंह तोमर की पादटिप्पणी से है।

सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इधर इस विषय पर अनेकों लेख शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और कुछ संपादित ग्रंथों में भी इस युग के वीरकाव्यों की ऐतिहासिकता प्रमाणित हुई है। अब आवश्यकता इस बात की है कि इस सारी सामग्री को इतिहास के लिये उपयुक्त घोषित किया जाय और इतिहास के पुनर्लेखन के समय इसका उपयोग किया जाय।

आज इतिहास अतीत का विवरण मात्र नहीं है और न राजपुरुषों की गाथा ही है। आज का ऐतिहासिक दृष्टिकोण बदला हुआ है। आज के इतिहास लेखन में राजपुरुषों एवं उनके आश्रितों के दृष्टिकोण के बजाय जनता के संघर्ष की गाथाओं का लिखा जाना भी उपयुक्त माना गया है। इसके लिये राजनैतिक विकास दिखलाया जाता है; सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संस्थाओं का विवरण भी प्रस्तुत किया जाता है। आदर्श एवं विश्वास, परंपरा एवं प्रगति, विरोध एवं साम्य आदि को भी दिखलाना आवश्यक समझा गया है। राजपुरुषों की गाथा इतिहास का सतही विवरण माना गया है। अतः इन वीर काव्यों के अध्ययन का वास्तविक ऐतिहासिक अध्ययन केवल घटनाओं और पात्रों के विवरण तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। ऐतिहासिक पुरुषों का अध्ययन इतिहास ग्रंथों की अपेक्षा इनमें अधिक विस्तार से मिलता है। अतः इतिहास के अछूते पक्षों पर भी वीरकाव्यों के माध्यम से प्रकाश डाला जा सकता है।

हिंदी साहित्य में, रीतिकाल तक के साहित्य में, अब तक जो विवरण प्राप्त हुआ है, उनमें इतिहास से संबंध रखनेवाले काव्य वीर गाथाकाल के रासो ग्रंथ और मध्यकाल के अनेकों ग्रंथ हैं। डाक्टर टीकमसिंह तोमर ने १६००-१८०० ई० के बीच लिखे गए १२ कवियों की १८ रचनाओं को अपने अध्ययन का आधार बनाया है किंतु उन्होंने ५२ ग्रंथों की एक तालिका ऐसी दी है, जो इसी समय के भीतर लिखे गए हैं और ऐतिहासिक पुरुषों से संबंधित हैं। इन ५२ ग्रंथों में से अनेकों अब भी अप्रकाशित हैं।[८] ये सभी ग्रंथ वर्तमान खोज को देखते हुए कम हैं। प्रकाशित सामग्री के आधार पर भी सामग्री इससे अधिक दिखाई देती है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका एवं अन्य शोधपत्रिकाओं में अब भी प्रचुर सामग्री दिखाई देती है, जिसको अब तक ऐतिहासिक धरातल पर शोध का आधार नहीं बनाया गया है। इस प्रचुर सामग्री के आधार पर लिखा गया इतिहास निश्चित ही इस काल के इतिहास के संबंध में नई धारणा प्रस्तुत करेगा। हिंदी में इस प्रकार

८. हिंदी वीरकाव्य, पृ० १७-२० ।

के ग्रंथों का अध्ययन अब तक केवल शोध के रूप में ही किया जा रहा है। पृथ्वीराज रासो को छोड़कर शायद ही किसी ऐतिहासिक पुरुष पर लिखे गए काव्य का अध्ययन लोकप्रिय रहा हो। क्या वास्तव में पृथ्वीराजरासो भी लोकप्रिय रचना है? इसका उत्तर विद्यार्थीवर्ग ही दे सकता है। कठिनाई निश्चित ही विषय की अपेक्षा भाषा की है। किंतु रीतिकाल के ग्रंथों की भाषा रासो की तुलना में कठिन नहीं है। इस पर भी भूषण को छोड़कर एक दो अन्य कवियों तक ही दृष्टि पहुँचती है। इन वीर काव्यों को पढ़कर देश के प्रति स्वाभिमान का भाव जैसा पैदा होना चाहिए वैसा नहीं होता। यदि होता तो रचनाएँ लोकप्रिय होतीं। इतिहास का गौरवमय रूप, अतीत की स्वाभिमानी मुद्राएँ काव्य में जिस रूप में देखी जानी चाहिए, वैसी नहीं दिखाई देती। यह इतिहास का दोष है या काव्य रचयिताओं का या काव्यनायकों का या भाषा का या काव्यगुणों का, इसकी समीचीन समीक्षा होनी चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इन प्रश्नों का समाधान ऐतिहासिक धरातल पर देने का प्रयास किया जायगा।

इस भूमिका के बाद अब आलोच्यकाल के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करना समीचीन होगा। ऐतिहासिक पुरुष अपने समय के राजनीतिक पुरुष रहे हैं। दूसरे शब्दों में वे सत्ताधारी रहे हैं अतः उनका अपने युग की राजनीतिक गतिविधियों से सीधा संबंध रहा है। कहा भी गया है कि अतीत की राजनीति आज का इतिहास है और आज की राजनीति कल का इतिहास होगी। अतः जब भी हम अतीत का इतिहास उस युग में पहुँच कर उस युग के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो उस युग की राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन ही करते हैं। इसी लिये ऐतिहासिक पुरुषों का अध्ययन अपने समय की राजनैतिक शक्तियों का अध्ययन भी है। मध्यकालीन वीरकाव्यों में इन ऐतिहासिक पुरुषों का चरितगान, प्रशस्तिगान कवियों द्वारा तत्कालीन मान्य सांस्कृतिक आदर्शों के संदर्भ में ही किया गया है। किंतु इन कवियों ने अपने आपको प्रशस्तिगान या चरितगान तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने अपने नायकों के राजनैतिक कार्यों का (आज की दृष्टि से ऐतिहासिक कार्यों का) उल्लेख भी किया है। सत्ताधारियों के संघर्ष को उन्होंने सजीव शब्दों में चित्रित किया है। जय और पराजय दोनों का, विजयश्री एवं बलिदान दोनों का उल्लेख सांस्कृतिक संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। उस युग के काव्यों को समझने के लिये उस युग के राजनैतिक ढाँचे तथा अनुशासन प्रणाली को समझना बहुत आवश्यक है। जब तक सत्ताधारियों की शक्ति एवं उस शक्ति का जनजीवन से संबंध रखनेवाली शृंखला का ठीक ठीक परिचय प्राप्त नहीं कर लिया जायगा तब तक उनके संबंध में कवियों के कथन का मूल्यांकन भी नहीं किया जा सकेगा। कवियों द्वारा गाई गई गाथाएँ राजनैतिक पुरुषों की गाथाएँ हैं, यह ठीक है किंतु ये उस

व्यक्तिविशेष की सत्ता के वृत्त तक सीमित हैं। अतः पहले उस युग के भारत के राजनैतिक स्वरूप को समझने का प्रयास अपेक्षित है।

मध्ययुग में सामंतवाद को विशेष रूप से प्रश्रय मिला। विजयी राजा के अधीन अनेक सामंत होते थे। ये सामंत स्थानीय शासन करते और आवश्यकता पड़ने पर राजा की सैनिक सहायता करते थे। ये सामंत देश के केंद्र में स्थापित निरंकुश राजतंत्र के अधीन कार्य करते थे। इस संबंध में डा० राजबली पांडेय ने लिखा है—'भारत में साम्राज्य की सामान्य कल्पना मांडलिक राज्य की थी, इसलिये सारा साम्राज्य ही स्थानीय सामंतों के बीच बँटा हुआ था। परंतु मध्ययुग में राजनीतिक विशृंखलता, अनिश्चितता और अरक्षा के कारण इस सामंती व्यवस्था को अधिक प्रोत्साहन मिला।...मध्ययुग में, देश के खण्डशः विभाजित होने के कारण, बड़े पैमाने पर भक्ति का विकास न होकर केवल स्थानीय सामंत तक वह सीमित हो जाती थी। इसका प्रभाव शासन पद्धति और देश की सैनिक शक्ति पर भी पड़ा'[9] दूसरी बात यह कि जनता ने राजनीति में रुचि लेना छोड़ दिया 'निरंकुश एकतंत्र, सामंतवाद और देश के खंडित होने से जनता में एक घातक प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे राजनीति के प्रति उदासीनता कह सकते हैं...जब भारतीय राजवंशों का ध्वंस कर विदेशी राजवंश स्थापित होने लगे तो सामान्य जनता ने उन्हें अपना शासक उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जिस प्रकार वह किसी भारतीय राजवंश को स्वीकार करती थी...इस राजनीतिक दासता और उदासीनता की प्रवृत्ति यहाँ तक पहुँची कि दिल्ली के मुगल शासक जनता के हृदय में ईश्वर के आसन पर आरूढ़ हो गए। जगन्नाथ जैसे उद्भट पंडित ने निस्संकोच कहा, 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' अब राजधानियों पर कोई भी अधिकार करके जनता पर शासन कर सकता था''[10]

मध्ययुग के जिन वीरकाव्यों की चर्चा इस निबंध में की जा रही है, उनका समय १७०० संवत् से १६०० संवत् के बीच का है। दूसरे शब्दों में रीतिकालीन वीरकाव्यों तक ही विषय को सीमित रखना है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह समय १६४३ ई० से १८४२ ई० के बीच का समय है। १६४३ ई० में दिल्ली में शाहजहाँ का शासन था। १८४२ ई० तक यद्यपि अंगरेज भारत में जम गए थे पर १८५७ ई० तक मुगलों का अंतिम बादशाह बहादुरशाह जफर दिल्ली में रहा।

९. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, भा० १, सं० राजबली पांडेय, पृ० ३७ ३८।
१०. वही, पृ० ३६-४०।

एक प्रकार से इस युग को मुगलों के पतन का काल भी कहा जा सकता है। शाहजहाँ का काल समृद्धि का था। बाद में औरंगजेब के समय से लेकर अंत तक मुगलों का पूर्णतः पतन होने तक देश में अनेकों संघर्ष होते रहे। औरंगजेब के समय में उसकी कट्टर धार्मिक नीति के कारण देश में अनेक राजा उसके विरोध में संघर्ष कर रहे थे। इनमें प्रमुख छत्रपति शिवाजी, महाराजा छत्रसाल बुंदेला, मेवाड़ के राजा राजसिंह एवं इनके समर्थक अन्य अनेक राजा और सामंत हैं। इन्हीं को आधार बनाकर कवियों ने काव्य लिखे हैं। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल का गुण गाया। गोरेलाल ने छत्रप्रकाश लिखा और मान कवि ने राजविलास लिखा। औरंगजेब के बाद का समय तो मुगलों के पतन का समय है। किंतु इस पतन में कितनी ही अन्य शक्तियाँ उभर रही थीं, जिनमें मराठों की शक्ति प्रमुख थी। एक प्रकार से यह समय देश में राजनैतिक शक्तियों के विघटन का रहा है। इस विघटन में नई शक्तियों का संगठन भी हुआ है किंतु ठीक इसी समय विदेशियों का आगमन भी देश में हो गया और भारतवर्ष एक पतन से मुक्त होते होते दूसरे पतन का शिकार हो गया। इसी बीच विघटित शक्तियों ने ही अपनी अपनी सीमा में भारतीय गौरव की रक्षा में जो योगदान दिया उसी गौरव का गान कवियों ने किया है। यद्यपि उनका योगदान अपनी सीमित शक्तियों को देखते हुए कम नहीं है फिर भी उसकी एक प्रकार से उपेक्षा हुई है। कवियों ने एक प्रकार से इन ऐतिहासिक नायकों को अपने काव्य का विषय बनाया है। शुक्ल जी के शब्दों में इन कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया है। यह इसलिये कि इन कवियों के नायक इतिहास प्रसिद्ध वीर पुरुष नहीं थे। पतित सामंतों की प्रशस्तियाँ लिखना एक प्रकार से पतन का अवमूल्यन करना था। किंतु इसका दूसरा महत्व भी है, जिसकी ओर प्रायः कम ध्यान दिया गया है। इस महत्व पर प्रकाश डालने से पूर्व इस युग के संघर्ष के मूल कारणों पर प्रकाश डालना अधिक उपयुक्त होगा।

स्वतंत्रता सब मूल्यों की जननी है। किसी राष्ट्र की संस्कृति का निर्माण, उसका संरक्षण एवं विकास स्वतंत्रता की अवस्था में ही हो सकता है। पराजित जाति संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकती। इस संबंध में रूसी इतिहासवेत्ता दानिलेव्स्की ने संस्कृति की उत्पत्ति और विकास के कुछ नियम दिए हैं। उनमें कुछ निम्नलिखित हैं—१—प्रत्येक जाति जो एक भाषा या समान भाषाओं के समूह से परिबद्ध हो और अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास के योग्य हो संस्कृति का आधार बन सकती है। २—यदि वह जाति राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो तभी वह संस्कृति में परिणत हो सकती है। ३—एक संस्कृति के मौलिक सिद्धांत दूसरी संस्कृति में संक्रांत नहीं हो सकते क्योंकि इनकी अपनी विशेषताएँ वैयक्तिक होती हैं। यद्यपि संस्कृतियाँ आपस में एक दूसरे पर प्रभाव डालती रहती है और उपनिवेशीकरण, उर्वरीकरण (पार-

सांस्कृतिक आदान प्रदान) और अंतर्वेपन (ग्राफ्टिंग) की प्रक्रियाओं द्वारा एक दूसरे से संबंधित होती रहती हैं तथापि उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ एक दूसरे से नहीं मिल पातीं।[११] दानिलेव्स्की के इन विचारों के आलोक में यदि इस युग के संघर्ष पर विचार करें तो हमें दो मूल संस्कृतियों का संघर्ष दिखाई देता है। ये दोनों ही संस्कृतियाँ हिंदू संस्कृति और इस्लामी संस्कृति के नाम से अभिहित की जा सकती हैं। इसमें भी इस्लामी संस्कृति का शासन दिल्ली में था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत पराधीन था। ऐसी स्थिति में देश में संस्कृति के पुनरुत्थान के प्रयत्न होना स्वाभाविक था। इस प्रयत्न में भारत के अनेक चिंतकों ने, संतों ने, भक्तों ने अपना अपना मौलिक योगदान दिया है। इस इतिहास को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। इन सब के साथ साथ देश की जनता ने और अनेक सामंतों और राजा महाराजाओं ने भी अपनी सीमित शक्ति के आधार पर देशाभिमान एवं देश की संस्कृति की रक्षा करने का पूरा पूरा प्रयास अपने प्राणों के मोल पर किया है। कितने ही व्यक्तिगत बलिदान हुए हैं। उन बलिदानों का इतिहास खोजने पर प्राप्त हो सकता है। हिंदी में हमें जो वीरकाव्य प्राप्त हैं, उनमें राजा महाराजाओं की प्रशस्तियाँ भले ही देखने को मिलें किंतु उसके मूल में भारतीय संस्कृति का गौरव भी निहित है। राजा महाराजाओं की प्रशस्ति उस संस्कृति के रक्षक के रूप में ही वर्णित है। और सचमुच देखा जाय तो व्यक्तिगत धरातल पर राजा महाराजा और सामंत भी—सभी तो नहीं किंतु अनेक - वीरश्री से ओतप्रोत थे। इसका ज्ञान राजवंशों के विस्तृत अध्ययन से हो सकता है। व्यक्तिगत दृष्टि से बलवान एवं चरित्रवान होने पर भी असफलता के कारण कुछ तो उनके सांस्कृतिक विश्वास हैं और दूसरा प्रमुख कारण ऐतिहासिक भूलें हैं। इसके साथ साथ व्यक्तिगत स्वार्थ और आपसी फूट भी पतन की ओर लेजानेवाले कारण हो सकते हैं। यहाँ सफलता और असफलता के ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करना एवं उसके विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल यही कहना है कि अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद जिस सांस्कृतिक बल पर राजा महाराजाओं ने अपने देश की संस्कृति को सुरक्षित रखने में योगदान दिया है, उनका गुणस्तवन कवियों ने वीरकाव्यों में किया है। डा० राजबली पांडेय ने इस संबंध में लिखा है - 'भारत ही ऐसा देश था जहाँ इस्लाम को सतत संघर्ष का सामना करना पड़ा और लगभग एक हजार वर्ष के आक्रमण और शासन के बाद भी भारत के विजय और धर्मपरिवर्तन

११. इतिहास दर्शन, डा० बुद्धप्रकाश, पृ० २८१-२८३।

में उसे आंशिक सफलता ही मिली। संसार के इतिहास में यह एक बड़ी महत्व की घटना है। स्पेन के दक्षिणी छोर से लेकर चीन की दीवार तक इस्लाम की जेहादी सेना ने पूर्ववर्ती धर्म और सामाजिक ढाँचे को पूर्णतः नष्ट कर दिया और अब उनका अवशेष केवल भूखनन से ही प्राप्त होता है। पश्चिमोत्तर, अफ्रिका, मिश्र, अरब, असीरिया, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया सभी पूर्णतः इस्लाम के सामने परास्त हुए। परंतु भारत में यह घटना नहीं हुई। भारत के सभी राजवंश नष्ट नहीं हुए और राजवंशों के पराजित और नष्ट होने पर भी जनता की अपनी सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रति आस्था और आग्रह बना रहा इनके ऊपर आक्रमण का प्रतिरोध संघर्ष और कष्ट सहन के द्वारा जनता करती रही, जहाँ यह संभव नहीं हुआ वहाँ वर्जनशीलता और केवल कष्ट सहन का मार्ग उसने ग्रहण किया, किंतु अपने सांस्कृतिक जीवन की रक्षा की। केवल थोड़े से लोग दबाव, भय और प्रलोभन से इस्लाम में दीक्षित हुए। राजवंशों की भी प्रायः यही प्रवृत्ति रही। स्थान परिवर्तन और नवीन राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाए जाते हैं। सैनिक पराजय के बाद अधीनता स्वीकार करके पुनः संघर्ष और राजनीतिक संघटन के भी कतिपय दृष्टांत मिलते हैं।"[१२] भारतीय नरेशों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न अपनी अपनी सीमा में किया है इसी का वर्णन कवियों ने वीरकाव्यों में किया है। इन वीरकाव्यों में भारतीय संस्कृति के जो वर्णन हैं वे संस्कृति के उत्थान और विकास के नहीं अपितु अतीत को सुरक्षित रखने की भावनाओं से ओतप्रोत रूढ़ रूप में हैं। चूँकि राजा महाराजाओं ने देशाभिमान और देश के गौरव को जीवित रखने का प्रयत्न किया अतः कवियों ने उनका गुणस्तवन उसी संदर्भ में किया है। कवियों की ये प्रशस्तियाँ रूढ़ सांस्कृतिक संदर्भ में ही गाई गई हैं। दूसरे कवियों ने ऐतिहासिक दृष्टि से जिन वृत्त एवं घटनाओं को अपने काव्य में लिखा है, उनको सांस्कृतिक भावनाओं से रँग दिया है।

कालिदास और तुलसी दोनों के काव्यों में भारतीय संस्कृति मुखर हुई है। दोनों ही महाकवि देश की विचारधारा और देश की उच्च एवं उदात्त संस्कृति का उद्घाटन करनेवाले हैं। किंतु दोनों में एक मौलिक अंतर है वह है अपने समय की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ। कालिदास के काव्य में भारतीय संस्कृति का जो रूप है, वह विजित जाति की संस्कृति का रूप है। कालिदास के आदर्श राजा सफल एवं कर्मठ शासक हैं। जीवन के प्रति उनमें स्वस्थ उपभोग का दृष्टिकोण है।

१२. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्र० भा०, सं० राजबली पांडेय, पृ० ४२-४३।

वे आत्मनिर्भर, तेजस्वी पुरुष पुंगव हैं और उन सब गुणों से विभूषित हैं जो उनके चिरकोल्लसित प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिये अपेक्षित हैं।'[13] इसके विपरीत तुलसीदासजी पराधीन भारत के कवि होने के कारण उनमें वह शक्तिशाली स्वर नहीं आ पाया है। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति का गर्वोन्मत्त और उन्मुक्त विकासमान रूप कालिदास के साहित्य में ही मिलता है। बाद का साहित्य पराधीन भारत का साहित्य है। यहाँ तुलसीदास को दोष नहीं दिया जा रहा है। डाक्टर देवराज ने ठीक लिखा है—'विनय पत्रिका में तथा अन्यत्र भी तुलसीदास ने जगह जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारांतर से यह हीनता भावना उस समय की हिंदू जनता की अवनत अवस्था को प्रकट करती है। उस जनता में संभवतः आत्मविश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान् के अवलंब के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा देखती ही न थी। जहाँ कालिदास के उन्नत युग में अपनी बुद्धि एवं अपने बल पर भरोसा रखना श्लाघ्य समझा जाता था, वहाँ तुलसी के समय में मनुष्य का सबसे आवश्यक गुण ईश्वर पर निर्भर होना बन गया था।'[14] यहाँ दोनों कवियों की तुलना इसलिये की गई है कि स्वाधीनता और पराधीनता दोनों स्थितियों में अंतर स्पष्ट किया जा सके।

भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास पराजयों का इतिहास है। जिसे इतिहास के नाम पर हम पढ़ते आये हैं, वह लगातार आनेवाले आक्रमणकारियों का इतिहास है। इस संबंध में (अर्थात् भारतीय इतिहास के संबंध में) कार्ल मार्क्स को आधार बनाकर राहुल ने लिखा है—'सहस्राब्दियों से भारतीय समाज मुक्त प्रवाह नहीं, प्रवाह शून्य नदी का झाबर हो गया है। सारे गृहयुद्ध, विदेशी आक्रमण, क्रांतियाँ, विजय, अकाल—चाहे जितने ही तीव्र और नाशकारी रहे हों, पर वह भारत में सतह से भीतर नहीं घुस सके।'[15] इसीलिये भारतवर्ष का इतिहास अर्थात् ज्ञात इतिहास एक प्रकार से लगातार आनेवाले आक्रमणकारियों का इतिहास है। इन आक्रमणकारियों ने निष्क्रिय अपरिवर्तनशील समाज की निश्चेष्टता की मदद से अपने साम्राज्य कायम किए। हिंदी साहित्य का इतिहास एक प्रकार से पराधीन भारत का इतिहास है। और जैसा कि कहा गया है, अब तक का ज्ञात इतिहास बाहर से आनेवाले आक्रमणकारियों का इतिहास है। किंतु इन आक्रमणों का सामना करनेवालों का इतिहास वास्तव में हिंदी साहित्य में अवतरित

१३. आधुनिक समीक्षा, डा० देवराज, पृ० ७३ ८० :
१४. वही, पृ० ८१।
१५. कार्ल मार्क्स, राहुल, पृ० १७३ से १८६।

हुआ है और मध्यकालीन वीरकाव्यों में जिन भारतीय नरेशों को काव्य का आधार बनाया गया है, वे नरेश बाहर से आए हुए आक्रमणकारियों का विरोध करनेवाले हैं। पराजित होने पर भी इन नरेशों ने संघर्ष जारी रखा। राजनैतिक दृष्टि से हार स्वीकार करने पर भी इन्होंने अपने सांस्कृतिक मूल्यों को बनाए रखा है। इन मूल्यों की रक्षा के लिये कितनों ने अपने प्राण दिए हैं। भारतवर्ष का इतिहास त्याग और बलिदानों का इतिहास भी है। इस ओर प्रायः कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह रहा है कि इतिहास पढ़ते समय हमारी दृष्टि आक्रमणकारियों के इतिहास की ओर रही है और यह दृष्टि रहना स्वाभाविक ही था क्योंकि वे दिल्ली के शासक रहे हैं। किंतु आक्रमणकारियों को छोड़कर भारत के अनेक राजवंशों का विस्तृत इतिहास देखा जाय तो शौर्य एवं वीरश्री की अनेक गाथाएँ देखने को मिलेंगी। हिंदी वीरकाव्यों में ये गाथाएँ हैं। आवश्यकता इन्हें देखने की है।

प्रश्न है कि वीरकाव्यों में यदि विजित जाति की संस्कृति का गान और गौरव होता है तो फिर मध्यकालीन वीरकाव्यों को वीरकाव्य कहा जाय अथवा नहीं? इसका समाधान भी है। वह यह कि यद्यपि भारतीय नरेशों ने राजनैतिक रूप से हार स्वीकार कर ली थी किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से वे संघर्ष करते रहे। अर्थात् वे अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा में प्राणपण से लगे रहे। भारतीय नरेश धर्म और संस्कृति के प्रति कितने ईमानदार थे इसके कितने ही उदाहरण मिलते हैं। केसरिया बाना पहन कर युद्ध में जाना, मरण को शृंगार एवं पर्व मानना एवं स्त्रियों का सती हो जाना आदि इस बात को प्रमाणित करनेवाले हैं कि सांस्कृतिक मान्यताओं पर जब राजनैतिक आपत्ति आई तो नरेशों ने अपनी वीरता का पूरा परिचय दिया। या तो उन्होंने विजय प्राप्त कर अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा की या मिट गए। तीसरी स्थिति उन्हें स्वीकार नहीं थी। राजस्थान का इतिहास ऐसे ही त्याग एवं बलिदानों का इतिहास है। और इसी की अभिव्यक्ति हिंदी वीरकाव्यों में हुई है। इस वीरता को वीरता नहीं तो क्या कहना चाहिए?

अब मध्यकालीन वीरकाव्यों की ऐतिहासिकता पर दो शब्द कहना उचित होगा। इस युग के अधिकांश कवि राजाओं के दरबार में रहनेवाले कवि थे। इन कवियों ने अपनी समकालीन घटनाओं और राजनैतिक गतिविधियों का उल्लेख अपने काव्यों में किया है। कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने अपने से पूर्व घटित ऐतिहासिक वृत्त को अपने काव्य का आधार बनाया है। जिन कवियों ने समकालीन आश्रयदाता को आधार बनाकर काव्य लिखा है, उनके काव्य में समकालीन वृत्त का जितना उल्लेख हुआ है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण प्रामाणिक है। क्योंकि समकालीन वृत्त लिखते हुए भी कवियों ने आरंभ में राजाओं की वंशावली दी है। कहीं कहीं समकालीन वृत्त से पूर्व सुनी सुनाई सूचनाओं या स्मृति के आधार पर भी ऐतिहासिक

वृत्त लिख दिया गया है। ऐसे प्रसंगों में ऐतिहासिक भ्रांतियाँ मिलती हैं। उदाहरण के लिये मान का राजविलास लिया जाय। मोतीलाल मेनारियाजी ने लिखा है—'मानजी महाराणा राजसिंहजी के समसामयिक थे। अतएव महाराणा राजसिंह के विषय की जो भी बातें उन्होंने अपने इस ग्रंथ मे बतलाई है वे प्राय: ठीक हैं और ठीक होनी भी चाहिए। क्योंकि यह सब कवि का अपनी आँखों देखा हाल है।'[१६] इसी मान कवि ने राजसिंह के पहले का जो वृत्तांत दिया है, उसमें ऐतिहासिक गड़बड़ियाँ हैं। इन गड़बड़ियों के कारण ही टीकमसिंह तोमर ने लिखा है—'राजविलास के उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के उपरांत यह निष्कर्ष निकलता है कि उक्त ग्रंथ में दी हुई तिथियों, घटनाओं एवं सेनाओं के वर्णनों में कवि ने अतिशयोक्ति से काम लिया है। चारणों एवं भाटों में प्रचलित प्राय: सारी बातों का मान ने अपने ग्रंथ में समावेश कर दिया है।'[१७] इसी तरह मेनारिया ने भी उसके अनैतिहासिक उल्लेखों की समीचीन व्याख्या की है। किंतु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि काव्य में समसामयिक भाग ऐतिहासिक है और पूर्ववृत्तांत अनैतिहासिक। इस पूर्ववृत्तांत वाले भाग को भी पूर्णत: अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्मृति में या सुनने मे जितना प्रामाणिक अंश आ गया है, उसका प्रामाणिक विवरण है। पूर्ववृत्तांत को कवि ने अधिक काल्पनिक ढंग से लिखा है, इसलिये वह इतिहास के साथ मेल नहीं खाता। इसी तरह जिन कवियों ने समसामयिक आश्रयदाता पर नहीं लिखा बल्कि इतिहास के पूर्व वृत्तांत को काव्य का आधार बनाया उनमें ऐतिहासिक तथ्य प्रामाणिक रूप से नहीं मिलते। जैसे, जोधराज कवि कृत 'हम्मीररासो'। हम्मीर-रासो का रचनाकाल डा० टीकमसिंह तोमर ने सं० १८८५ वि० अर्थात् ८२८ ई० दिया है।[१८] जोधराज के आश्रयदाता नीमराणा (अलवर राज्य के अंतर्गत) के चौहाण वंशीय राजा चंद्रमाण थे। इन्हीं की आज्ञा से कवि ने उक्त रचना की। हम्मीररासो में अलाउद्दीन खिलजी और राव हम्मीर के युद्धों का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से कवि का वृत्त विवादास्पद है। तोमरजी ने ही लिखा है—'हम्मीररासो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं है। उसमें प्रयुक्त तिथियाँ एकदम अशुद्ध हैं और अधिकांश पात्रों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। कवि ने घटनाओं की वास्तविकता, सत्यता एवं प्रामाणिकता का बहुत कम ध्यान रखा है। उसने परंपरागत प्रचलित एवं मनगढंत बातों का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग किया है, जिसके फलस्वरूप इतिहास की

१६ मान कवि का राजविलास, सं० मोतीलाल मेनारिया (भूमिका), पृ० १६।
१७. हिंदी वीरकाव्य, पृ० २६६।
१८. वही. पृ० ३५।

दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत साधारण कोटि का बन पड़ा है।[19] इसके विपरीत वे काव्य जो कवियों ने समसामयिक आश्रयदाता के समसामयिक वृत्तांत को आधार बनाकर लिखे हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतः प्रामाणिक हैं। जैसे भूषण का काव्य। इस प्रकार के काव्यों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

१. केशव का वीरसिंहदेव चरित।[20]
२. भूषण का शिवराजभूषण।[21]
३. मान का राजविलास।[22]
४. लाल का छत्रप्रकाश।[23]
५. श्रीधर का जंगनामा।[24]
६. सदानंद का रासा भगवंत सिंह।[25]
७. सूदन का सुजानचरित्र।[26]
८. गुलाब का करहिया कौ रायसौ।[27]
९. पद्माकर की हिम्मत बहादुर विरुदावली।[28]
१०. वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेसदासोत री खिड़िया जगा री कही।[29]
११. कवि रघुनाथ रसाल कृत रामचरित्र।[30]
१२. रतनू वीर भाणकृत राजरूपक।[31]

१९. वही, पृ० ३६१।
२०. वही, पृ० १३०।
२१. वही, पृ० २३७।
२२. मान कवि का रामविलास, सं० मोतीलाल मेनारिया (भूमिका), पृ० १६।
२३. हिंदी वीरकाव्य, पृ० २८७।
२४. वही, पृ० ३०६।
२५. वही, पृ० ३१०।
२६. वही, पृ० ३३२।
२७. वही, पृ० ३३६।
२८. वही, पृ० ३४४।
२९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अंक ३ (संवत् २०१७), पृ० २८५।
३०. कवि रघुनाथ रसाल कृत 'रामचरित्र'—सं० भा० रा० भालेराव एवं काशी राम शर्मा तथा रघुवीर सिंह, राजकमल, दिल्ली, पृ० २०।
३१. राजरूपक, सं० पं० रामकर्ण, ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० ३।

ये सभी कवि अपने अपने आश्रयदाताओं के समकालीन रहे हैं और इन्होंने अपने काव्यों में समकालीन ऐतिहासिक वृत्त को जितना लिखा है, वह प्रामाणिक है। किंतु जिन कवियों ने इन काव्यों में पूर्व वृत्तांत दिया है, जैसे राजविलास या सुजानचरित्र में, वह इतिहास से मेल नहीं खाता। वचनिका के संबंध में वासुदेव सिंह ने लिखा है—'इस वचनिका में चारण कवि खिड़िया जगा ने जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह और मुगलस म्राट् शाहजहाँ के विद्रोही पुत्रों (औरंगजेब और मुराद) के बीच मालवा में उज्जैन से लगभग १४ मील दक्षिण पश्चिम में धरमत के स्थान पर ६ अप्रैल १६५८ ई० को हुए ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन किया है। इस प्रकार यह एक ऐतिहासिक काव्य है और धरमत के युद्ध का विस्तृत और प्रामाणिक चित्र उपस्थित करता है। इस घटना को लेकर अभी तक जो इतिहास ग्रंथ लिखे गए हैं, उनके आधार फारसी लेख ही रहे हैं। डा० यदुनाथ सरकार ने औरंगजेब का विस्तृत इतिहास लिखने में फारसी का आलमगीरनामा, फतूहात-इ-आलमगीरी, तारीख-इ-शाहशुजाई, जाफरनामा-इ-आलमगीरी और आलम-इ-सालिह आदि ग्रंथों को ही आधार बनाया था। लेकिन ये ग्रंथ केवल एक पक्ष को ही ध्यान मे रखकर लिखे गए हैं। उनमें विजयी औरंगजेब के शौर्य और अहं का ही विस्तार से उल्लेख है। धरमत के युद्ध से दूसरे पक्ष में किस प्रकार तैयारी हुई, कितने प्रमुख सेनानायक एवं योद्धा थे, उनमें क्या क्या मंत्रणा हुई और युद्ध में उस पक्ष के कितने वीर रणभूमि में मृत्यु को प्राप्त हुए आदि आदि प्रश्नों के उत्तर फारसी ग्रंथों में नहीं मिलते हैं। इनका आँखों देखा वर्णन जगा ने 'वचनिका' में किया है।[32] इसी तरह अचलदास खीची की वचनिका, वृंद कवि की वचनिका आदि भी हैं। वचनिका एक प्रकार से काव्यरूप की दृष्टि से चंपू के अधिक निकट हैं। इनमें पद्य के बीच बीच आलंकारिक और तुकांत गद्य की छटा भी रहती है। संभव है वृंद की वचनिका में जो ऐतिहासिक वृत्त है, वह भी समकालीन वृत्त होने के कारण प्रामाणिक हो।

इस युग के कवियों पर अपने आश्रयदाताओं की रुचि की भी अमिट छाप है। यद्यपि काव्य की रचना में कवि स्वतंत्र होता था और सांस्कृतिक मानमूल्यों में वह रूढ़ आदर्शों का पालन कर रहा था किंतु आश्रयदाताओं की मनोवृत्तियों का भी वह ध्यान रखता था। इसी से उनके काव्यों में प्रशस्तिमूलक स्वर दिखाई देता है। एक प्रकार से इस युग के कवियों ने संस्कृत के दरबारी कवियों की परंपरा को बनाए रखा। डाक्टर गोपालराय ने लिखा है—'संस्कृत साहित्य में कहीं भी सामाजिक

३२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अंक ३, (सं० २०१७), पृ० २८३।

विद्रोह की भावना का चित्रण नहीं मिलता। संस्कृत के कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों मानकर काव्यरचना में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने सम्यक् रूप से देने का प्रयास नहीं किया है और यह तब तक संभव नहीं है जब तक साहित्य के लक्ष्यभूत श्रोता को सामने रखकर विचार न किया जाय।'[३३] इसी बात का उत्तर देते हुए वे लिखते हैं—'संस्कृत साहित्य का श्रोता और कवियों का आश्रयदाता सामंतीय और अभिजात समाज था। सामंतीय और अभिजात समाज में परंपरा का महत्व अधिक होता है, क्योंकि इसकी सारी सत्ता उत्तराधिकार पर आधारित होती है। यह वर्ग समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। संस्कृत साहित्य के रचनाकाल में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। भारतवर्ष की जनता इस सिद्धांत में विश्वास करती थी कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। ···धनी या निर्धन होना, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना पूर्वजन्म के सुकृत या दुष्कृत का परिणाम है। वैसी स्थिति में सामाजिक विद्रोह की भावना के लिये कहाँ स्थान है ? निश्चय ही यह धारणा सामंतों के हितों के सर्वथा अनुरूप थी और कवियों तथा पुरोहितों ने साहित्य तथा धर्म ग्रंथों में इसका समर्थन और प्रचार किया।'[३४] गोपाल रायजी ने जो बात संस्कृत साहित्य के संबंध में कही है, वह हिंदी के दरबारी कवियों के लिये भी उतनी ही ठीक है। रीतिकालीन कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की रुचि को ध्यान में रखकर काव्यरचना की है। 'रीति कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना एकम एक कर लिया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है।'[३५] इन कवियों में अनेक कवि ऐसे भी हैं जिनकी स्थिति सामंतों से भी अच्छी थी और ये राजाओं पर भी नियंत्रण करते थे। कवियों की सामाजिक स्थिति के संबंध में टाड के इतिहास से कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

'उन दिनों भट्ट कवियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। राजाओं, सामंतों और सरदारों की झूठी प्रशंसाएँ करना उनका काम था। इसके बदले में उनको राजपूतों से सदा लंबी रकमें मिलती थीं। इन कवियों ने अपनी झूठी प्रशंसाओं के सुनने का उनको आदी बना दिया था।'[३६]

३३. आलोचना ३१, पृ० ६६।
३४. वही, पृ० ६६-१००।
३५. वही, पृ० १०१।
३६. टाड कृत राजस्थान का इतिहास, पृ० ३३४।

'इन कवियों ने राजपूतों को जीवन की सही बातें कभी नहीं बताई थीं। पर के लड़ाई-झगड़ों में राजपूतों को इन कवियों से अनुचित प्रोत्साहन मिलता था।[३७]

'विवाहों के अवसर पर कवि और ब्राह्मण राजपूतों के यहाँ जाते थे और झूठी प्रशंसा करके ये लोग दोनों पक्षों से धन वसूल करते थे। जो लोग इन कवियों और ब्राह्मणों को अधिक से अधिक संपत्ति देकर प्रसन्न न कर सकते थे, उनके विरुद्ध कविताएँ बनाकर ये लोग उनका तिरस्कार करते थे। उस अपमान से बचने के लिये विवाह के अवसरों पर इन कवियों को अधिक से अधिक धन देकर प्रसन्न करने की कोशिश की जाती थी।[३८]

'गुजरात की विजय में शूर सिंह को लूट में बहुत सी संपत्ति मिली थी। उससे उसनें जोधपुर के नगर और उसके दुर्ग की उन्नति की। इसी संपत्ति में से उसने मारवाड़ के ६ भट्ट कवियों को पुरस्कार दिए। प्रत्येक पुरस्कार एक लाख पचास हजार रुपये का था।'[३९]

ये उदाहरण इसलिये दिए गए हैं कि कवि जहाँ राजाओं से नियंत्रित होते थे, वहाँ वे राजाओं को अपने नियंत्रण में भी रखते थे। कई स्थितियों में तो ऐसा देखा गया है कि कवि राजाओं के परिवार के सदस्य के रूप में ही रहते थे और उन्होंने अपनी राजभक्ति का ध्यान रखकर राजपरिवारों की रक्षा भी की है। न हम राजाओं को दोष दे सकते हैं और न कवियों को क्योंकि दोनों ही प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। अतः इस युग के कवियों को राजनैतिक जीवन का एक अंग मान सकते हैं। कई बार कवियों ने राजाओं को कूट मंत्रणाएँ भी दी हैं, युद्ध में तलवार भी हाथ में ली है और धन संपत्ति द्वारा सहायता भी दी है। इसी लिये इन कवियों के संबंध में कहा जा सकता है कि 'रीतिकवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना ऐकम एक कर लिया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है।[४०]

डाक्टर रमेश कुंतलमेघ ने लिखा है—'जिस इतिहास लेखन में स्थानीय

३७. वही, पृ० ३६४।
३८. वही, पृ० ३६४।
३९. वही, पृ० ३७६।
४०. आलोचना, अंक ३१, पृ० १०१।

राजवंशों की गाथा ही गाई जायगी और जनकर्म की उपेक्षा होगी, उसके द्वारा देश की दशा का पर्यवेक्षण नहीं हो सकेगा और स्थानीय देशभक्तियों (प्रांतीयता, जातीयता) को बढ़ावा मिलेगा। जिस इतिहास लेखन में पुराने आदर्शों का ही जयगान किया जायगा उसका परिणाम भविष्य की कीमत पर अतीत में आश्रय लिए रहना होगा। जिस इतिहास लेखन में जाति या संप्रदाय का आधार लिया जायगा वहाँ एक ही ऐतिहासिक तथ्य बिलकुल विपरीत तथ्यों का उद्घाटन करेगा। सरदार पणिक्कर ने इसका उदाहरण दिया है। हिंदुओं की दृष्टि में वे ही चरितनायक हैं जिन्होंने मुसलमानों का प्रतिरोध किया, जैसे राणा कुंभा, राणा प्रताप, शिवाजी, गोविंदसिंह आदि। मुसलमानों की दृष्टि में वे ही चरितनायक हैं जिन्होंने हिंदुओं को जीता, जैसे अलाउद्दीन खिलजी, फीरोज तुगलक, औरंगजेब।'[४१] यह कथन मध्यकालीन वीरकाव्यों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण को एक हद तक ठीक व्यक्त कर रहा है। इसके विपरीत भी अनेक तथ्य मिलते हैं किंतु सांस्कृतिक धारणाओं में अंतर होने के कारण सहज ही हमारा लक्ष्य उस ओर नहीं जाता। राज्याश्रित कवियों ने केवल हिंदू राजाओं की प्रशस्तियाँ में ही काव्य लिखे हैं, ऐसी बात नहीं है। कितने ही हिंदू कवियों ने मुसलमान बादशाहों की प्रशस्ति में उसी तरह ऐतिहासिक वृत्त को आधार बनाकर काव्य लिखे हैं जैसे वे हिंदू राजाओं के लिये लिखते थे। स्वयं केशवदास ने 'जहाँगीर जस चंद्रिका' लिखी है। श्रीधर कवि का जंगमनामा इसी प्रकार का काव्य है। इसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। दोनों संस्कृतियों में सतत संघर्ष चलता रहने पर भी दोनों में बहुत हद तक मेल भी हुआ है। इसके प्रमाण में अकबर और मानसिंह का उदाहरण जहाँ दिया जा सकता है, वहाँ औरंगजेब और जसवंतसिंह का उदाहरण उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह पढ़कर आश्चर्य होता है कि अकबर की मृत्यु मानसिंह के कारण हुई और इसी तरह जसवंतसिंह की मृत्यु औरंगजेब के कारण हुई। एक की मृत्यु में मारनेवाले ने प्रत्यक्ष अपना ही घात कर लिया और दूसरे की मृत्यु में मारनेवाले का अप्रत्यक्ष हाथ था।[४२] यह होने पर भी दोनों स्थितियों में राजनैतिक स्तर पर दोनों एक दूसरे के सहयोगी एवं विश्वासपात्र तथा स्वामिभक्त रहे हैं। राजपूतों ने राजनैतिक स्तर पर हार स्वीकार कर ली थी किंतु सांस्कृतिक स्तर पर हार स्वीकार नहीं की। दानिलेव्स्की का कथन बिल्कुल ठीक है कि संस्कृति

४१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, (सं० २०२१) अंक ३ पृ० ३३६।
४२. टाड के इतिहास में अकबर द्वारा मानसिंह को विष देने के प्रयत्न की बात लिखी है, भूल से स्वयं उसने (अर्थात् अकबर ने) खा लिया, इसी लिये उसकी मृत्यु हो गई। देखिए पृ० २०६ ।

अपने आप में वैयक्तिक होती है। और इस नाते दो संस्कृतियाँ आपस में मिल नहीं सकतीं। जब तक दोनों ही एक दूसरे का संमान करते रहेंगे तब तक संघर्ष की संभावना नहीं होगी किंतु यदि राजनैतिक शक्ति के कारण संस्कृति को मिटाने के प्रयत्न होंगे तो उसका प्रतिकार प्राण देकर किया जायगा। स्वयं संभाजी का उदाहरण हमारे सामने है। शिवाजी की तरह वह कर्मठ एवं नीतिकुशल नहीं था। वह विलासी प्रवृत्ति का था। इसी से विलासी अवस्था में कैद कर लिया गया। इस समय उसे मुसलमान बन जाने के लिये कहा गया। यह राजनैतिक प्रस्ताव नहीं था। सांस्कृतिक प्रस्ताव था। उसने बड़े स्वाभिमान के साथ उक्त प्रस्ताव को ठुकरा दिया। फलस्वरूप उसकी नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी गई (१६८९ ई०)। मार्क्स ने भारतीय इतिहास का विश्लेषण करते हुए लिखा है - 'अंगरेज उन विजेताओं की तरह भारत में नहीं आए थे, जो भारत में आकर भारतीय बन भारत के हो गए—वह यूनानियों, शकों, तुर्कों, मुगलों की भाँति हिंदू नहीं बन गए। अंगरेजों में पहले के विजेताओं से अनेक विशेषताएँ थीं। दूसरे विजेता जरूर थे किंतु साथ ही सभ्यता में उस तल पर नहीं पहुँचे हुए थे जिस पर हिंदू पहुँच चुके थे। इसलिये इतिहास के सनातन नियम के अनुसार राजनीतिक विजेता विजित जाति की श्रेष्ठ सभ्यता द्वारा पराजित हो गए।[४३] तात्पर्य यह है कि यहाँ की संस्कृति और मुगलकालीन इस्लामी संस्कृति दोनों में उस काल में बड़ा मेल हुआ और बहुत हद तक मुगल बादशाहों ने यहाँ की संस्कृति का संमान भी किया। यदि ऐसा न होता तो उनका शासन इतने लंबे समय तक चलना कठिन होता। मुगलों की सफलता का बहुत बड़ा कारण राजपूत थे। इस बात को कट्टर औरंगजेब भी उतनी ही अच्छी तरह जानता था। स्वयं उसके दरबार में जसवंतसिंह और जयसिंह जैसे व्यक्ति थे। किंतु यह भी सत्य है कि उसी की विरोधी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण मुगल वंश के अनेक विरोधी पैदा हो गए। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि औरंगजेब का विरोध करनेवाले भी औरंगजेब मात्र का विरोध करते हैं, मुगल वंश का विरोध नहीं। स्वयं औरंगजेब के शासनकाल में ही राजपूतों ने और मराठों ने भी औरंगजेब को हटाकर उसके पुत्र को दिल्ली का बादशाह बनाने का प्रयत्न किया। किंतु वे औरंगजेब की कूटनीति के कारण सफल नहीं हो सके। फिर भी औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल विरोधी सभी शक्तियों ने मुगल वंश को बनाए रखने का (अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर) प्रयत्न किया है।

४३. कार्लमार्क्स, राहुल सांकृत्यायन, पृ० १७१ से १८६ तक। राहुल जी ने भारतीय इतिहास का विश्लेषण कार्ल मार्क्स के विचारों को उद्धृत करते हुए किया है।

किसी ने यह नहीं सोचा कि दिल्ली के कमजोर बादशाह को हटाकर दिल्ली के मालिक बन जायें। औरंगजेब की मृत्यु के बाद अर्थात् १७०७ ई० के बाद से लेकर १८५७ ई० तक दिल्ली में १६४ वर्षों तक मुगल राजा शासन करते रहे। इनमें से प्रायः सभी बादशाह कठपुतली थे। यह लंबा इतिहास पतन का इतिहास है। यह शासन बादशाहों का शासन नहीं, बादशाह बनानेवालों का शासन है। इनमें राजपूत, तुर्क, इरानी, बुंदेले, मराठे, जाट, सिक्ख, अफगानी आदि सभी हैं। इन सब में आपसी स्वार्थों के कारण सदैव संघर्ष होते रहे। इनमें से कोई भी चाहता तो बादशाहत अपने हाथ में ले सकता था किंतु सभी ने नाम मुगलों का ही बनाए रखा और सब लोग आपस में निरंतर लड़ते रहे। कितनी ही बार एक बादशाह को मारकर किसी दूसरे को बादशाह बना देने के उदाहरण मिलते हैं। मुगल परिवार की दयनीय दशा थी। वे नाम मात्र के बादशाह रहे। मराठे चाहते तो दिल्ली के बादशाह हो सकते थे किंतु उन्होंने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया। दिल्ली में मराठों के प्रभाव को बढ़ते हुए देखकर अफगानों ने अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। दोनों में भयंकर संघर्ष हुआ जिसका निर्णय पानीपत के तीसरे युद्ध ने किया। इस युद्ध के बाद मराठों की शक्ति क्षीण हो गई। इतिहास लंबा है। ये सब लिखने का तात्पर्य केवल इतना है कि दिल्ली के मुगल राजपरिवार के प्रति ईश्वरी राजपरिवार का भाव सदैव देखने में आया। सभी शक्तियों ने दिल्ली के मुगल परिवार का संमान एक राजपरिवार के रूप में किया और उन्हें भारत का सम्राट् माना। यहाँ तक कि १८५७ ई० में जब क्रांति हुई तो बहादुरशाह जफर को दिल्ली का बादशाह घोषित किया गया। यह स्थिति केवल दिल्ली की ही रही हो यह बात नहीं। अन्य राज्यों में जो राजपरिवार थे उनका वंशानुगत अधिकार उनपर रहा है। राजपरिवार में अयोग्य या नाबालिग उत्तराधिकारी होने पर राजमाताओं ने या सामंतों ने उत्तराधिकारी के नाम पर स्वयं शासन किया है किंतु किसी ने भी स्वामिभक्ति में कमी नहीं दिखाई। वास्तव में बहुत से युद्ध केवल इसी बात पर हुए कि उत्तराधिकार किसे मिले। राजपरिवार के दुर्बल होने पर मंत्रियों ने ही शासन अपने हाथ में ले लिया और मंत्री कहलाते हुए शासन करते रहे। मराठों का इतिहास इसी प्रकार का है। मुगलों के बाद अंगरेजों से आने के पूर्व यदि कोई बड़ी शक्ति थी तो वह मराठों की थी किंतु मराठों में वास्तविक शासन पेशवों का रहा है। पेशवे मंत्री थे जो बाद में शासक बन गए (शाहू की मृत्यु के बाद)। शाहू को कोई संतान नहीं थी। ऐसी स्थिति में शिवाजी के वंशजों का—राजाराम के वंशजों—का शासन स्वतंत्र रूप से सातारा में और बाद में कोल्हापुर में बराबर चलता रहा और पेशवों ने भी उनका संमान मराठा राजा के रूप में सदैव किया। हर समय जब पेशवा बदलते थे तो बदलने की रस्म शाहू के समय में जैसी थी वैसी ही होती थी। पेशवे वास्तविक शासक होते हुए भी औपचारिक नियमों का पालन करते थे। उन्होंने अपने आपको

वास्तविक राजा किसी भी समय घोषित नहीं किया तो ऐसी स्थिति में उनका दिल्ली का राजा बनना कैसे संभव हो सकता था। मराठों की वास्तविक राजधानी पूना होते हुए राजा की दृष्टि से राजधानी सातारा या कोल्हापुर रही। इस तरह हम देखते हैं कि वीरकाव्यों में राजाओं के प्रति जैसी भावना व्यक्त की गई है, वह भावना हमारे देश में मौजूद थी। हनुमान ने बड़े बड़े कार्य किए किंतु फिर भी वे हनुमान ही रहे। राम नहीं हो सके। इसी तरह भारत का शासन इस लंबे समय में वास्तव में राम ने किया ही नहीं हनुमानों ने ही किया है किंतु हनुमानों का नाम हम राम के परिपेक्ष्य में ही लेते हैं और राम के दुर्बल होने के कारण हनुमान के गौरव को कम कर देते हैं। हमारे यहाँ राजनीतिज्ञों की कमी नहीं थी। किंतु उनका नाम राजा के रूप में नहीं लिया जाता। उनका नाम उनके पदानुसार ही लिया जाता है, इसी से भारत के त्यागी, स्वामिभक्त और देश के लिये मर मिटनेवाले अनेकों के अनमोल, नाम हम नहीं जानते। हमारे देश का इतिहास इस रूप में लिखा ही नहीं गया। हमारे देश में तुलसी के शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि—'मनियत सबै राम के नाते'। किंतु राम यदि राम हैं तो ठीक है। वास्तविकता यह रही कि राम तो राम नहीं रहे अतः हनुमानों को ही काम करना पड़ा है। राजाओं के राजवंश को बनाए रखने में कितने ही हनुमानों ने अपने प्राणों का त्याग किया है और इनका इतिहास अज्ञात है या यदि ज्ञात भी है तो उपेक्षणीय रहा है। उनके प्रति हमारी सांस्कृतिक भावना वैसी नहीं है जैसी राजाओं के प्रति है। हनुमान अपने आप में बलवान होते हुए भी जब राम का गुण गाता है तो हनुमान के गुण गानेवाले भी राम का गुणगान करेंगे ही ऐसी स्थिति मे कवियों ने भारत की सांस्कृतिक मान्यता के अनुसार यदि राजाओं का गुणस्तवन किया है तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। कवि स्वयं उस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त हो गए थे। एक प्रकार से हमारी संस्कृति अभिजात सामंतों की संस्कृति थी। यह हमें प्राचीन काल से परंपरा के रूप में प्राप्त थी। संस्कृत काव्यों में दरबारी कवियों की जो परंपरा चली आ रही थी उसी का निर्वाह उस युग के हिंदी कवियों ने भी उसी रूप में करने का प्रयत्न किया। किंतु यहाँ संस्कृत के कवियों में और हिंदी के कवियों में अंतर है और सब से बड़ा अंतर है सांस्कृतिक रूप से राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थात् संस्कृत कवियों ने भारत की पराधीनता का वैसा अनुभव हर्ष के काल तक नहीं किया था जैसा बाद के इन कवियों अर्थात् हिंदी के कवियों ने किया। संस्कृत के दरबारी कवियों ने शृंगार का खुलकर वर्णन किया है। इसके साथ साथ उन्होंने नीति संबंधी साहित्य भी लिखा है। यह प्रवृत्ति हिंदी कवियों में भी है। हिंदी कवियों ने भी दरबारों में शृंगार की प्रवृत्ति को जीवित ही नहीं रखा बल्कि उसको बहुत आगे बढ़ाया, कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। हिंदी कविता के इस

गुण की स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—'इन रीति ग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठा करें तो भी उनकी इतनी संख्या न होगी।'[४४] किंतु इस शृंगारवाली प्रवृत्ति में और संस्कृत की शृंगारवाली प्रवृत्ति में भी अंतर है। यह अंतर ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण है और इसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति वीरकाव्यों में देखने को मिलती है। वीरकाव्यों में वीरता के साथ साथ शृंगार का भी प्रचुर योग हुआ है। बहुत कम वीरकाव्य (भूषण जैसों को छोड़कर) शृंगार को छोड़कर लिखे गए होंगे, रासो काव्यों में तो शृंगार और वीरता दोनों एक दूसरे के अंगीभूत बनकर अवतरित हुए ही हैं किंतु इस युग में भी यह प्रवृत्ति रही है। हिंदी कवियों के सामने परिस्थिति बड़ी विकट थी। उनकी संस्कृति खतरे में थी। नारियों को अपहरण से बचाना था। शासन आक्रमणकारियों का था। उनसे लड़ना था। राजनैतिक स्तर पर समझौता हो जाने पर भी सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिये फिर लड़ना पड़ता था। ऐसी स्थिति में वीरता की मौत मरना ही उनके लिये श्रेय था। जौहर की रस्मों में कितनी स्त्रियों ने सतीत्व की रक्षा के लिये प्राण दिए हैं। इसी तरह युद्ध में पति के मर जाते ही स्त्रियाँ सती हो गई हैं। युद्ध जीवन का अंग बना हुआ था जिसकी संभावना हर क्षण बनी हुई थी। टाड ने इस संबंध में लिखा है—'कन्याओं को मार डालने, सती होने और जौहर व्रत पालन करने की प्रथाओं को अपने जीवन में आश्रय देकर राजपूतों ने अपने जिस स्वाभिमान और स्वातंत्र्य का परिचय दिया था, वह संसार में अन्यत्र आसानी से देखने को न मिलेगा। जिन जातियों के इस प्रकार के आचरणों के थोड़े बहुत आभास संसार के जिन लोगों में मिलते थे, राजपूत उनमें प्रधान थे। इस प्रकार की प्रथाएँ स्वाभिमानी राजपूतों के बलिदानों का परिचय देती है। संसार के जिन लोगों में बलिदान होने की शक्ति नहीं होती, वे कभी स्वतंत्र नहीं रह सकते। बलिदानों की शक्ति मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रमाण देती है।'[४५] ऐसी स्थिति में नारी के शृंगार का

४४. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल (नौवाँ संस्करण), पृ० २३६-२३७।

४५. टाड कृत राजस्थान का इतिहास, पृ० ३३६।

वर्णन केवल शृंगारी रूप में नहीं किया जा सकता था। रूपनगर की राजकन्या चारुमती (रूपनगर किशनगढ़ में है) के साथ औरंगजेब विवाह करना चाहता था। चारुमती के पिता रूपसिंह का देहांत हो गया था। उसके भाई मानसिंह को यह प्रस्ताव विवश होकर स्वीकार करना पड़ा। किंतु राजपूत कन्या इसे स्वयं स्वीकार करने के लिये कैसे तैयार होती। उसके मनोभावों को मान कवि के शब्दों में ही सुनिए—

गिरि शृंग उतंगनि तें सु गिरौं, कुल कज्ज हलाहल पान करौं।
जरि है भर पावक कुंड जरौं, वरिहौं सुर, आसुर हौं न वरौं॥
जिन आनन रूप लँगूर जिसौं, पल सर्व भखैं सुर सौं पुण सौं।
जिन नाम मलेछ पिसाच जनी, सुर ही रिपु हौं नन स्याम मनौं॥
मन सोचति ही उपज्यौ सु मनो, क्षिति छत्रपती वर हिंदु कतौं।
श्री राजसि राण सूँ माण सदा, अब ओट गहौं तिनकी सु मुदा॥
पुहवी नन ता सम छत्रपती, रवि वंस विभूषण भास रती।
धर आसुरि मारन हिंदु धनी, सरनै मो रक्खन सोइ धनी॥
तहि औसरि सुंदरि पत्र लिखै, चित्रकोट धनी अबहूँ सु रखैं।
हरि ज्यौं सु रुकंमनि लाज रखी, अबला यौं राखहु आस मुखी॥[४६]

फलतः राणा राजसिंह ने औरंगजेब का विरोध कर चारुमती से विवाह कर लिया। स्त्रियों के प्रति राजपूतों की भावना के संबंध में टाड ने लिखा है—'वह सभी स्वीकार करते हैं कि राजस्थान में स्त्रियों को राजपूतों ने जो संमान दिया है वह किसी दूसरे देश में नहीं मिलता। संसार की किसी जाति ने स्त्रियों का उतना आदर नहीं किया, जितना कि राजपूतों ने किया है।[४७] इसी तरह राजपूतों की चारित्रिक विशेषताओं के संबंध में भी टाड लिखता है—'राजपूतों के जीवन के साथ सिद्धांतों का अटूट संबंध है, जिनका वे युद्ध के समय अपने शत्रुओं के साथ भी करते हैं और युद्ध समाप्त हो जाने के बाद उन सिद्धांतों और नैतिक व्यवहारों का समर्थन करते हैं। लड़ाकू राजपूतों में उनके पूर्वजों के गुणों का जितना सामंजस्य मिलता है, उतना अन्यत्र न मिलेगा। बाप दादों की चाल छोड़ देनेवालों से वे घृणा करते हैं और उनको असंमानपूर्ण नेत्रों से देखते हैं।[४८] इन परिस्थियों में कवियों ने इन चारित्रिक

४६. राजविलास, सं० मोतीलाल मेनारिया, सप्तम विलास, छं०सं०२७से ३१।
४७. टाड कृत राजस्थान का इतिहास, पृ० ३१० एवं ३११।
४८. वही, पृ० ३०६ – ३१०।

विशेषताओं के साथ अपने नायकों का गुणस्तवन किया है। आक्रमणकारी जो भी हैं आए उनमें ये चारित्रिक विशेषताएँ नहीं थीं। अतः उन्होंने इनकी विशेषताओं का लाभ उठाया और यहाँ के नरेश उन नियमों का पालन करते हुए मर मिटे। विलास में उन्होंने कमी नहीं की और अपने विलास का ही परिणाम उनको भोगना पड़ा। विलास से उनकी नींद नहीं खुलती थी और शत्रु सिर पर आ सवार होता था ऐसी स्थिति में मर मिटना ही उनके लिये शेष रह जाता था। उनकी प्रशंसा इसी बात के लिये की जानी चाहिए कि इन्होंने अपना बलिदान किया किंतु अपने मूल्यों की रक्षा करते रहे। भारत पर जब मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे उस समय भारत के नरेशों की विलासप्रियता का वर्णन डा० बुद्धप्रकाश ने इस प्रकार किया है—'साहित्य और इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब मुसलमान सेनाएँ दुर्गों के द्वारों को तोड़ रही थीं तो परमर्दि मग्न स्त्रियों का नाच देख रहा था, लक्ष्मणसेन मातंगी से खेल कर रहा था, पृथ्वीराज नींद से ऊँघ रहा था और हरिराज नर्तकियों पर और वेश्याओं पर कोश खाली कर रहा था। गुजरात के चार हजार मंदिरों में बीस हजार से ज्यादा देवदासियाँ थीं। जो कुछ मंदिरों के अंदर होता था वही उनकी बाहरी दीवारों पर चित्रित किया जाता था।'[४९] यह स्थिति आरंभ की थी किंतु बाद में इस काल में भी राजाओं और सामंतों की यही स्थिति थी। यदि ऐसा न होता तो रीतिकाल में इतने अधिक परिमाण में शृंगारी साहित्य नहीं लिखा जाता। नायक नायिका भेद पर हिंदी में पाए जानेवाले प्रचुर साहित्य को देखकर तत्कालीन राजाओं की या सामंतों की मनोवृत्ति और रुचि का सहज ही में परिचय मिल जाता है। सार बात यह है कि संस्कृत कवियों में और हिंदी कवियों मे भी पारंपरिक दृष्टि से आदर्श वही रहा किंतु हिंदी कवियों ने जब रचनाएँ कीं उस समय हिंदू संस्कृति का उन्नत काल नहीं था। संस्कृत के कवियों ने स्वाधीनता का अनुभव किया था। हिंदी कवियों को ऐसा अवसर नहीं मिला। उन्हें अतीत को जीवित रखने के प्रयत्न में त्याग और बलिदान के उदाहरण मिले। अतः इस युग के कवियों ने बलिदानों की गाथा ही लिखी है, विजय की गाथा नहीं। राजपूतों के युद्ध प्रायः रक्षात्मक ही मिलते हैं। आक्रमण करना और किसी प्रांत पर विजय प्राप्त कर साम्राज्य बढ़ाने की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया है। महाराणा प्रताप का उद्देश्य चित्तौड़ प्राप्त करना ही था। अकबर को दिल्ली से हटाने की बात उन्होंने नहीं सोची थी। यह दूसरी बात है कि चित्तौड़ को वे प्राप्त नहीं कर सके और यह काम वे अपने पुत्र अमरसिंह को सौंप गए। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों में कवियों का योगदान भी उसी के अनुरूप रहा है। जैसा कि पहले ही कह दिया गया है कि इस युग के कवियों में भी सामंतीय

४९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक, सं० २०१८, पृ० ४४९।

भाव थे। उनका व्यक्तित्व राजाओं के व्यक्तित्व से मिला हुआ है। वे सामंतों या राजपरिवार के सदस्य बनकर रहे हैं एवं उनके गुण दोषों से पूर्णतः अवगत रहे हैं। कवियों के काव्यों में जिस प्रकार की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं, वे भावनाएँ यदि अतिशयोक्ति न हों तो कह सकते हैं कि वे राजपूत राजाओं के जीवन की सच्ची भावनाएँ थीं।

मध्यकाल में कुछ वीरकाव्य शृंगार रहित लिखे गए हैं। इनमें भूषण का नाम सर्वोपरि है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस प्रकार के वीरकाव्यों को शुद्ध वीरकाव्य कहा है।[५०] भूषण के नायक छत्रपति शिवाजी थे। ऐतिहासिक दृष्टि से छत्रपति शिवाजी के संबंध में कहना उपयुक्त होगा। भारतवर्ष की प्राचीन परंपरा के अनुसार जो आदर्श बने हुए थे, छत्रपति शिवाजी उस आदर्श के समर्थक थे। जिन आदर्शों का पालन राजपूत करते आ रहे थे, उन्हीं आदर्शों का पालन छत्रपति शिवाजी ने भी किया। अंतर केवल इतना है कि छत्रपति शिवाजी ने सद्गुणों को ग्रहण किया और उन गुणों का त्याग किया जिनसे उद्देश्य प्राप्ति में बाधा होती। शादी व्याह के लिये छत्रपति शिवाजी ने कोई युद्ध नहीं किया। उनके प्रणय की कोई कथा राजनैतिक स्तर पर नहीं मिलती। राजपूतों में विवाह राजनैतिक स्तर पर होते थे अतः विवाह सामाजिक या पारिवारिक कार्य होते हुए भी उसका प्रभाव उनके राजनैतिक जीवन पर भी पड़ता रहा है। इसी से उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ा है। ऐसी बात शिवाजी के साथ नहीं थी। राजपूतों के सभी सच्चादर्श छत्रपति ने अपने जीवन में अपनाए हैं। यहाँ तक कि उनका वंश मेवाड़ के वंश से सबद्ध बतलाया गया है। सरदेसाई और सभासद बखर एवं अन्य तत्कालीन ग्रंथों में उन्हें शिसौदिया वंश का बतल या गया है। ऐसी पूरी वंशावली भी दी गई है। यही नहीं उन्होंने गागाभट्ट नामी प्रकांड काशीवासी पंडित से प्राचीन पद्धति से अपना राज्याभिषेक भी किया। भारतवर्ष के इतिहास में मुसलमानों के आगमन के बाद ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमे विधिविधान के साथ भारतीय पद्धति से राज्याभिषेक कराया गया हो। शिवाजी का जीवन विलासिता का जीवन नहीं है। अतः विलासिता के कारण राजपूतों को जो हानि उठानी पड़ी, शिवाजी को वैसी हानि नहीं उठानी पड़ी। शिवाजी की महत्वकाक्षाओं का अनुमान उनके इस निम्नलिखित पत्र से लगाया जा सकता है, जो उन्होंने जयसिंह को लिखा था—

५०. हिंदी साहित्य का अतीत, भा०२, शृंगारकाल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७००।

'ओ महाराज, यद्यपि आप एक बड़े क्षत्रिय हैं, तथापि अपनी शक्ति का प्रयोग बाबर के वंश की वृद्धि की लिये करते आए हैं और रक्तवर्णवाले मुसलमानों को विजयी बनाने के लिये हिंदुओं का खून बहा रहे हैं। क्या आप इस बात को नहीं समझ रहे हैं कि इस तरह से पूरे जगत के सामने अपनी कीर्ति को कलंकित कर रहे हैं ? यदि आप मुझे जीतने के लिए आए हैं तो मैं आपकी राह में अपना सिर बिछा देने के लिये तैयार हूँ· पर चूँकि आप सम्राट् के प्रतिनिधि होकर आए हैं, इसलिये मैं इस बात का निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि आपके साथ कैसा व्यवहार करूँ। यदि आप हिंदू धर्म की ओर से लड़ें तो मैं आपके साथ सहयोग करने और आपकी सहायता करने के लिये तैयार हूँ। आप वीर एवं पराक्रमी हैं। एक शक्तिशाली हिंदू राजा की हैसियत से आपके लिये सम्राट् के विरुद्ध नेतृत्व ग्रहण करना ही शोभा देता है। आइए हम लोग चलें, और दिल्ली के ऊपर विजय प्राप्त कर लें। हमारा मूल्यवान रक्त अपने प्राचीन धर्म की रक्षा और अपने प्यारे पूर्वजों को संतुष्ट करने के लिये बहे!'[५१]

इस पत्र के आधार पर छत्रपति की भावी योजना और उनके आदर्श ध्येय की कल्पना की जा सकती है। यही नहीं छत्रसाल बुंदेला स्वयं उनके पास उनकी सेना में भर्ती होने आए तो उन्होंने यही सलाह दी कि उत्तर में जाकर वे भी उनकी तरह अपना राज्य स्थापित कर मुगलों का विरोध करें। छत्रसाल ने यही किया। शिवाजी की इस महत्वकांक्षा को औरंगजेब ने अच्छी तरह पहचान लिया था। वह जानता था कि शिवाजी का वार सीधा उसी पर है। इसी लिये उसने अपने जीवन का एक बड़ा भाग मराठों से लड़ने में खर्च किया। दक्षिण में स्वयं उसको लड़ना पड़ा। यहाँ तक कि शिवाजी की मृत्यु के बाद भी वह उसके पुत्र के विरोध में दक्षिण में बहुत दिनों तक इसी उद्देश्य से टिका रहा कि शिवाजी की योजना को असफल कर दे। उसे यह भय था कि संभाजी और उसका पुत्र अकबर उसे धोखा दे सकते हैं। संभाजी को तो उसने पकड़ कर उसकी हत्या करवा दी। किंतु शिवाजी की नींव इतनी मजबूत थी कि वह नष्ट नहीं हो सकी। कथा लंबी है। तात्पर्य यह है कि इतिहास में हमें शिवाजी अकेले इस रूप में मिलते हैं, जिनका लक्ष्य दिल्ली को प्राप्त करना था। इतना ऊँचा लक्ष्य रखने के कारण ही वे एक छोटी सी जागीर से आरंभ कर एक मजबूत राज्य की नींव डाल गए, जिनके अधीन दक्षिण का एक बड़ा भाग था। दक्षिण की अपने आसपास की शक्तियों से लड़ते हुए भी उन्होंने दिल्ली की ओर अपनी दृष्टि रखी। अखिल भारतवर्ष ने उन्हें देश का रक्षक और त्राता के

५१. मराठों का इतिहास गोविंद सखाराम सरदेसाई, पृ० ६६।

रूप में उसी समय स्वीकार कर लिया था। शिवाजी के संबंध में जनभावना को भूषण ने अपने काव्य में बड़ी शक्ति के साथ व्यक्त किया है।

शिवाजी के बाद में मराठों ने बहुत अधिक उन्नति की। यहाँ तक कि वे दिल्ली तक पहुँच गए और वे चाहते तो दिल्ली के शासक हो सकते थे। ऐसी अवस्था में प्रश्न है कि उन्होंने दिल्ली को अपना लक्ष्य क्यों नहीं बनाया? इसका उत्तर भी है। सबसे बड़ा कारण सांस्कृतिक दृष्टिकोण का है, जिसकी चर्चा पहले कर दी गई है। मराठों के इतिहास की दृष्टि से उसका संक्षिप्त विवेचन करना उचित होगा। संभाजी की मृत्यु के बाद मराठों ने राजाराम को शासक बना दिया और शिवाजी के आदर्श का पालन करते रहे। संभाजी के साथ उसका पुत्र, जिसका वास्तविक नाम शिवाजी था, और जो बाद में औरंगजेब द्वारा शाहू कहे जाने के कारण शाहू नाम से ही विख्यात हुआ, पकड़ लिया गया। उसे औरंगजेब ने दिल्ली भेज दिया और अपने आश्रय में रखा। उसका बालपन मुगलों के निकट संपर्क में बीता अतः मुगल राजवंश के संस्कारों से वह जीवन भर प्रभावित रहा। बाद में औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब वह महाराष्ट्र लौटा और उसने अपने अधिकार को पुनः प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया उस समय उसे ताराबाई से लड़ना पड़ा। बालाजी विश्वनाथ नामी विश्वासी पेशवे की सहायता से वह अपना राज्य स्थापित करने में सफल हो गया। इसमें मुगल बादशाहों ने शाहू को सहयोग दिया था क्योंकि शाहू का उनसे व्यक्तिगत संपर्क रहा था और कमजोर होने के नाते वे शाहू के सहयोग से अपने राज्य की समृद्धि चाहते थे। ताराबाई ने असफल होने पर भी जीवन भर अपना अस्तित्व एक राजनैतिक शक्ति के रूप में बनाए रखा और शाहू की मृत्यु के बाद शाहू को कोई संतान न होने के कारण उस वंश को आगे बढ़ाया। शिवाजी के वंशजों की सत्ता बनाए रखने में ताराबाई का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। यहाँ यह सब लिखने का अभिप्राय यह है कि छत्रपति शिवाजी और शाहू की तुलना उनकी महत्वकांक्षाओं के आधार पर की जाय। इसमे किसी की दो राय नहीं हो सकती कि मराठों के इतिहासों में शाहू जैसा उदारमना और लंबे समय तक समृद्धि के साथ राज्य की सीमाओं को बढ़ाकर मराठों के उत्कर्ष को बढ़ानेवाला राजा दूसरा नहीं हुआ। उसी के समय में पेशवों ने राज्य की उन्नति में राजा के प्रति स्वामिभक्ति का सच्चे अर्थों में परिचय दिया था। शाहू के समय में शाहू वास्तव में शाहू रहा और पेशवे, अपने पदानुसार पेशवे रहे। किंतु बाल्यावस्था के मुगल संस्कारों के कारण उसके मन में मुगलों के प्रति विरोधी भाव कभी उस तीव्रता के साथ नहीं उठा जिस तीव्रता के साथ शिवाजी के मन में उठा था। उसने कभी दिल्ली की सत्ता को समाप्त करने की बात सोची ही नहीं। इस संबंध में उसकी मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए सरदेसाई लिखते हैं — 'सच तो यह है कि जब उसने (शाहू ने) इस

बात की प्रतिज्ञा की कि वह सदैव दिल्ली के अधीन रहकर उसके प्रति राजभक्ति दिखाता रहेगा और आवश्यकता पड़ने पर सम्राट की आज्ञाओं का पालन करेगा, तभी उसे मुक्ति मिली और उसे नर्मदा पार अपने देश को लौट जाने की आज्ञा मिली (यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि उसने ७ वर्ष से २५ वर्ष की अवस्था तक युवाकाल के महत्वपूर्ण १८ वर्ष का जीवन मुगलों के कारावास में बिताया था और उसके मन में उनकी महत्ता की छाप पड़ गई थी, जिसे वह जीवन भर नहीं भूल सकता था)। शाहू स्वभाव से धर्मभीरु और ईश्वर से डरनेवाला था, अतः उसने सचाई के साथ अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया और इसके बाद जब कभी उसके सलाहकारों ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला लड़ाई छेड़ने का लालच दिखाया या उससे प्रार्थना की तो उसने दृढ़ता के साथ सबका अवरोध किया। उसके पितामह शिवाजी ने डंके की चोट मुसलमानी शासन का विरोध करके अपना जीवनकार्य आरंभ किया था और इस बात की पूरी आशा व्यक्त की थी कि उसका दमन करके वह अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर लेगा। शाहू ने दूसरी ओर, इस स्थिर सिद्धांत को बिल्कुल ही छोड़ दिया जिसके लिये उसके पिता और चाचा सम्राट के साथ पचीस वर्षों तक लड़े थे। उसने अपने सेनापतियों तथा मंत्रियों को आदेश दिया कि वे केंद्रीय मुगल सत्ता को हानि पहुँचाए बिना, अपने लिये नए प्रभाव एवं क्रिया क्षेत्र स्थापित कर लें।'[५२] इसी तरह पेशवों की महत्वकांक्षाओं को भी जानना चाहिए। पेशवे शाहू की तुलना में अधिक महत्वाकांक्षी थे। अनेक मराठा सरदार पेशवों को शिवाजी के आदर्श का स्मरण दिलाते थे और स्वयं पेशवे भी शिवाजी के आदर्शों के अनुसार राज्य की सीमाओं को बढ़ाकर हिंदू-पद-पादशाही की स्थापना का स्वप्न देखते थे उनकी इन महत्वाकांक्षाओं का ही परिणाम था कि दिल्ली तक में उन्होंने अपना प्रभाव बना लिया था। पेशवों को एक प्रकार से दो कार्य करने थे। एक तो उन्हें शिवाजी के आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न करना था और दूसरे उन्हें शाहू के लिये आराम के साधन जुटाना था। यह पहले ही कहा गया है कि शाहू उदारमना और विलासी प्रवृत्ति का था। दूसरी ओर उन्हें अपनी महत्वाकांक्षाओं के अनुसार कार्य भी करना था। पेशवों की महत्वाकांक्षाओं को यदि शाहू का समर्थन प्राप्त होता तो मराठों का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। पेशवे शाहू के आज्ञाकारी थे अतः उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया। मराठा साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाते हुए भी उन्होंने शाहू की भावनाओं और उसकी सहृदयता का सदैव आदर किया और उसके प्रति अंत तक ईमानदार बने रहे।

५२. वही, पृ० ३६।

ऐसी स्थिति में सच्चे कर्ता-धर्ता पेशवा होते हुए भी शाहू के व्यक्तित्व की उनपर अमिट छाप थी। मुगलों के इतिहास में जो स्थान अकबर का है, कुछ उसी प्रकार का ही नहीं, बल्कि और भी महत्वपूर्ण कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, मराठों के इतिहास में शाहू का है। वास्तव में मराठों की श्री, समृद्धि और उत्थान को व्यवस्थित ढंग से विकास की ओर मोड़ने का श्रेय भी शाहू को है। सार बात यह है कि पेशवे ऊँचे इरादे रखने पर भी शाहू की मनःस्थिति से प्रभावित थे। उनमें अपने आपको स्वतंत्र घोषित करने का साहस नहीं था। यों कहिए कि शाहू के माध्यम से ही वे शिवाजी के कोल्हापुरवाले वंशजों से लड़ते रहे और मुगलों से भी अपना संबंध सुविधाजनक बनाने मे सफल हो सके। शाहू की मृत्यु के बाद परिस्थिति बिल्कुल दूसरी हो गई। शाहू की मृत्यु के बाद पेशवे सर्वेसर्वा हो गए और अब वे मनमानी कर सकते थे किंतु इस समय तक परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। यह ध्यान रखने की बात है कि योग्य पेशवे शाहू के काल में ही हुए। बाद मे पेशवों की स्वयं की स्थिति भी बड़ी डावाँडोल हो गई। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि फूट के कारण स्वयं पेशवों में उत्तराधिकार का झगड़ा था। पेशवे आपस में ही लड़ते रहे और इस बीच मराठा सरदार जिनमे विशेष रूप से होलकर, भोंसले, गायकवाड़ और सिंधिया का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है, वे सभी पेशवों के उत्तराधिकार में अपने अपने स्वार्थों को लेकर दिलचस्पी लेते रहे। इनमे भी आपस मे फूट थी। अब शक्ति पेशवों में और मराठा सरदारों मे बँट गई और मराठा सरदार के प्रबल हो जाने के कारण पेशवे दुर्बल हो गए। इसी बीच अंगरेज भी आ गए। अतः संगठित रूप से अंगरेजों ने भी इन्हें मिलने का अवसर नहीं दिया। वे इन्हें नचाते रहे। शाहू के बाद पेशवों के शासन को बनाए रखने में सबसे बड़ा कार्य नाना फड्नवीस ने किया। अपने समय का वह सबसे बड़ा कूटनीतिज्ञ था। उसके जीते जी अंगरेज अपनी कूटनीति में सफल नहीं हो सके। शाहू के बाद का मराठा शासक एक प्रकार से नाना ही रहा। पेशवे उसी की आज्ञा का पालन करते थे और मराठा सरदार भी उसकी दाद देते थे। एक प्रकार से वह मराठा सरदारों और पेशवों को जोड़नेवाली कड़ी रूप में सिद्ध हुआ है। मराठों के इतिहास में शिवाजी के बाद शाहू और शाहू के बाद नाना ये तीनों व्यक्ति ही ऐसे हुए हैं जो अपने अपने काल में अंतिम शब्द कहने का अधिकार रखते थे। इनमें शिवाजी और शाहू के संबंध मे उनकी महत्वाकांक्षाओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अब नाना की महत्वाकांक्षाओं का भी संक्षेप में विवेचन करना तो ठीक होगा किंतु उनका संबंध प्रस्तुत निबंध से न होने के कारण यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि शिवाजी और शाहू के समय में लक्ष्य दिल्ली का था किंतु नाना के समय में लक्ष्य मुगलों की ओर से हटकर अंगरेजों की ओर चला गया और यह नाना की

कूटनीति और दूरदर्शिता का ही परिणाम था कि अंगरेज पूना में उसके जीते जी अपना कदम नहीं जमा सके। नाना की सारी शक्ति मराठों को संगठित करने में और अंगरेजों से देश की रक्षा करने में खर्च हुई है। प्रस्तुत विषय पर आते हुए अब हम यह कह सकते हैं कि शिवाजी के समान दिल्ली पर सीधा वार करनेवाला कोई नहीं हुआ। नाना के पास समय नहीं था और वैसी शक्ति भी नहीं थी। परिस्थितियों के कारण लक्ष्य और उद्देश्य बदले हुए थे।

भूषण ने शिवाजी को राम कहा है और ठीक ही कहा है। शाहू के समय में शाहू राम थे और पेशवे हनुमान। यह ऐसा समय था जब राम ने राम का काम किया और हनुमान ने हनुमान का। शाहू के बाद राम राम नहीं रहे सारा कार्य हनुमान ने किया किंतु वे अपने को राम घोषित नहीं कर सके। अर्थात् पेशवे पेशवे ही रहे। वे शाहू के समान स्वयं को खुल्लमखुल्ला सत्ताधारी नहीं कह सकते थे। हर समय जब पेशवों में परिवर्तन होता था तो औपचारिक रूप से नाम मात्र के राम जो सातारा या कोल्हापुर में रहते थे, उनसे आज्ञा लेते थे। पेशवों में फिर नाना नाम के हनुमान हुए जिनमें दो नामों का अंतर पड़ता था अर्थात् एक नाना के राम स्वयं पेशवे थे और पेशवों के राम सातारा में थे। सांस्कृतिक मान्यता यही थी। और इस मान्यता का समर्थन भारतीय जनता कर रही थी। नानारूपी हनुमान के समाप्त होते ही पेशवेरूपी राम जो पहले ही निर्बल थे और कमजोर हो गए। कोल्हापुर और सातारा की तो उससे भी दयनीय अवस्था थी। यहाँ पर एक प्रकार से शासक के संबंध में भारतीय मान्यता का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। वास्तविक शासक चाहे जो रहा हो नाम राम का ही होना चाहिए। यह भारतीय मान्यता रही है, इसी से हनुमानों ने सारी शक्ति को अपने में समेटते हुए भी राम की सत्ता को भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के हेतु बनाए रखने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है। राजा लोग भी कठपुतली होते हुए अपने को राजा समझते थे और उनमें राजा होने का स्वाभाविक भाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और पारस्परिक दृष्टि से बना हुआ था। सातारा और कोल्हापुर के शासकों में शिवाजी के वंशज राज करते रहे और उनमें वह दुर्बल क्यों न हो राजभावना बनी रही और उस भावना का पूना द्वारा भी सांस्कृतिक अवसरों पर सदैव समर्थन होता रहा। भारतीय इतिहास के इस रहस्य को समझे बिना उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हमारे देश के प्रत्येक राजवंश का इतिहास इसी से मिलता जुलता है।

भारतीय नरेशों के संबंध में प्रचलित सांस्कृतिक मान्यता का संक्षिप्त में विवेचन ऊपर किया गया है। यह विश्लेषण अपने आप में राजाओं की स्थिति का ज्ञान करा सकता है। हमारे देश के कवि और विशेष रूप से मध्यकाल के कवि इन्हीं नरेशों का गुणस्तवन किया करते थे। जब देश की जनता उन्हें नरेश मानती है तो कवि क्यों न

माने ? जब नाना पेशवे की मुहर चाहता था और पेशवे सातारा की मुहर चाहते थे तो कवि तो इतने शक्तिशाली थे नहीं। वे तो अंतिम शक्ति का गुण गाना ही उपयुक्त समझते थे और इसी में उनका हित था और चूँकि यह अंतिम शक्ति, भले ही नाममात्र की क्यों न हो, थी तो अंतिम शक्ति ही और देश के हनुमान इनकी अपनी सारी शक्ति लगाकर सहायता करते ही थे। इन हनुमानों को यदि जनभावना का भय न होता तो राजवंशों को अँगरेजों के आगमन तक ज्यों के त्यों बनाए रखने में सहयोग न मिलता और क्या अँगरेजों ने भी इनको खतम किया ? नहीं, क्योंकि भारत में अपनी सत्ता बनाए रखने में वे भी एक माध्यम चाहते थे जो वास्तव में अशक्त और दुर्बल होने पर भी ब्रिटिश सत्ता के लिये आड़ का काम करते थे, व्यवस्था में परिवर्तन करने से संभवतः क्रांति हो जाती और अँगरेज इसे कभी स्वीकार न करते। इसी लिये हम देखते हैं कि सरदार पटेल के सत्ता में आने तक देश में राजाओं की परंपरा यथावत् चलती रही।

सार बात यह है कि भारत में नरेशों को दैवी सत्ता के रूप में स्वीकृति प्राप्त थी और उनका यह अधिकार इतना मान्य था कि अच्छे अच्छे बलशाली भी उनके अस्तित्व को नहीं मिटा सके। यदि राजा से किसी प्रकार वे असंतुष्ट भी रहते तो वे उसे हटाकर या मारकर उसी वंश के किसी दूसरे उत्तराधिकारी को उसके स्थान पर बिठा देते। ऐसी अवस्था में राजाओं की क्या स्थिति हो सकती थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कुछ भी हो राजा राजा ही रहे, मंत्री मंत्री ही रहे और सेनापति अपने स्थान पर सेनापति ही रहे। शासन प्रणाली की दृष्टि से इस संबंध में विचार किया जा सकता है किंतु इसका प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध न होने के कारण नरेशों और कवियों के संबंध का सूत्र स्थापित करना आवश्यक होगा। नरेशों का कवियों से बड़ा निकट का संपर्क रहा है। इतिहास में सभी नरेश दुर्बल रहे हों ऐसी बात नहीं है। जो नरेश बलशाली होते थे और जिनका शासन में स्वयं का हाथ होता था और जो समय समय पर रणांगन में जाकर अपने शौर्य का प्रदर्शन भी किया करते थे, ऐसे नरेशों के दरबारी कवि भी उसी कोटि के रहे हैं। इन नरेशों पर लिखे हुए वीरकाव्य पठनीय हैं। किंतु जैसा कि पहले ही कह दिया गया है कि ऐसे नरेश भी रक्षात्मक रूप में ही लड़ते रहे, अपने मूल्यों के लिये बलि हो गए अतः उनसे संबंधित काव्यों में इनके बलिदानों की गाथाएँ ही लिखी गई हैं। कवियों ने गीता के आदर्श को ही दुहराया है—

> हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
> तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः।

अ० २।३७

और इसी आदर्श की अभिव्यक्ति हिंदी वीरकाव्यों में हुई है। इसमें 'भोक्ष्यसे महीम्' की बात की अभिव्यक्ति तो संस्कृत कवियों ने की है। हिंदी कवियों ने 'प्राप्स्यसि स्वर्गं' की बात ही अधिक की है।

इस युग के कवियों के संबंध में ध्यान रखने की बात यह है कि वही कवि दरबार में रहने के योग्य हो सकता था, जो राजा के मिजाज को पहचान सकता था और अपने काव्य के द्वारा या अपनी प्रतिभा द्वारा राजा के अहं का पोषण कर सकता था। राजाओं की रुचियों को जानना और उनके अनुसार काव्य की रचना करना आवश्यक था। अतः यदि यह कहें कि कवि एक प्रकार से राजाओं के व्यक्तित्व से निकट संपर्क रखनेवाले व्यक्ति होते थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। राजाओं को देखकर कवि का ज्ञान हो सकता है, उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि कवि को देखकर भी राजा का ज्ञान प्राप्त कर लेना उतना ही ही आसान था। कवियों ने राजाओं का व्यक्तिगत कार्य राजनैतिक धरातल पर भी किया है। इस संबंध में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। कवि और राजा दोनों में कौन महत्वपूर्ण है, यह कहना कठिन है, वैसे ही जैसे यह कहें कि बीज पहले या पेड़ पहले। यह उक्ति कुछ अत्युक्ति अवश्य लगती है किंतु इसमें पाए जानेवाले सत्यांश को परिस्थितियों को देखते हुए स्वीकार करना ही पड़ता है। एक बात और महत्वपूर्ण है। वह यह कि हनुमानों के बलशाली होने पर नाम मात्र के रामों को अपना समय काटने की समस्या थी। कवि यदि उनका समय काटने की अभिजात और संस्कृत प्रणाली काव्य के आधार पर प्रस्तुत नहीं करते तो राजाओं का समय कैसे बीतता? इस अभिजात और संस्कृत प्रणाली के संबंध में विभिन्न मत हो सकते हैं, जिसकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि कवि राजाओं की वैयक्तिक रुचि का ध्यान रखते हुए उनकी सहज प्रवृत्तियों के अनुकूल भावनाओं को संस्कृत वाणी का रूप देकर व्यक्त करते थे। काव्य में सब कुछ क्षम्य होता है क्योंकि कवि स्वयं भारतीय दृष्टि से ऋषि भी रहा है। एक प्रकार से कवियों के काव्य ने ही उनकी असंस्कृत भावनाओं को संस्कृत बनाया है, यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। काव्य ने नैतिकता के प्रश्न पर एक बड़ा परदा डालने का कार्य किया है। ऐसी स्थिति में इन कवियों की राजदरबारों में कितनी आवश्यकता अनुभव की जाती होगी यह कहने की आवश्यकता नहीं। अब हनुमानों और कवियों के संबंध को भी समझ लेना आवश्यक है। हनुमान अपने आप में बलशाली और राज्य के वास्तविक शासक होने पर भी जनभावना पर नियंत्रण रखने के लिये (क्योंकि हमारे देश का सांस्कृतिक विश्वास ही ऐसा था) राजाओं के अस्तित्व को कायम रखना चाहते थे। अतः उनके सामने सब से बड़ी समस्या यह थी कि

राजाओं को राजनैतिक कार्यों से यदि दूर रखना है (वास्तव में वे चाहते भी यही थे क्योंकि यदि राजा स्वयं राजनैतिक कार्यों में दिलचस्पी लेता तो उनके हाथ में अधिकार न रह सकता) तो उनके आराम और विलास के साधन जुटाए और वास्तव में मंत्रियों ने किया भी यही है। किंतु केवल साधन जुटाने मात्र से भी काम नहीं हो सकता था। अतः जो साधन जुटाए जाते उनका वह अपने अहं के अनुसार सांस्कृतिक समर्थन भी करवा लेना चाहते थे। यह कार्य कवियों को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता था। अतः राजाओं की नित्यप्रति की दिनचर्या के अनुसार उनके जीवन के अनुभवों को कलात्मक वाणी की आवश्यकता का अनुभव किया जाता था और इसमें कवि ही समर्थ था। वह सारी अनैतिकता को नैतिक संस्कारों से या कहिए कि कलात्मक संस्कारों से युक्त करने में समर्थ था। अतः मंत्री लोग भी कवियों की अनिवार्यता, इस रामवर्ग की भावनाओं के परिष्कार और संतुलन को बनाए रखने के लिये, आवश्यक समझते थे। एक बात और महत्वपूर्ण है, वह यह कि मंत्री लोग कर्ता धर्ता होने पर भी राजाओं की स्वीकृति के बिना कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी नीति को मान्य करवाने के लिये मंत्रियों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। कवि राजाओं की सहज प्रवृत्तियों से अधिक परिचित होता था अतः कई बार राजाओं के मिजाज को संभालने का कार्य कवियों ने ही किया है। ऐसे प्रसंगों में ही नीति कथनों की आवश्यकता होती थी और इसी लिये दरबारी कवियों ने नीति साहित्य की रचना की है। नीति के प्रत्येक कथन में निश्चित रूप से नहीं तो अनेक कथनों में किसी न किसी संदर्भ की बात अवश्य रही होगी। इम संदर्भों से परिचित न होने के कारण नीति के उन मार्मिक और प्रभावपूर्ण कथनों को नहीं समझ सकते। नीति कथन का वास्तविक आनंद उसके उपयुक्त प्रयोग में अर्थात् समयोचित कथन में होता है। बिहारी के कुछ दोहों के संबंध में संदर्भ ज्ञात होने के कारण उन दोहों की मार्मिकता और शक्ति का ज्ञान हम कर लेते हैं किंतु यह बात उन दोहों तक ही सीमित नहीं है। विषयांतर अवश्य हो गया है किंतु इसका प्रस्तुत विषय से भी संबंध है और वह यह कि मंत्री लोग राजाओं पर नैतिक दृष्टि से नियंत्रण रखने के लिये कवियों की अनिवार्यता में विश्वास करते थे। अतः इस युग के कवि को केवल कवि ही नहीं समझना चाहिए। वह कई बार मंत्रियों और राजाओं के संबंधों को सुस्थिर बनाए रखने में सहायक भी हुआ है। इस संबंध में एक बात ध्यान रखने योग्य यह भी है कि राजा लोग भी कवि होते थे, जसवंतसिंह स्वयं कवि था। मारवाड़ का राजा जालिमसिंह भी कवि था (टाड का इतिहास, पृ० ४६९)।

मध्यकाल में कवियों और राजाओं के संबंध में अब तक जो कुछ कहा

गया है, उसका एक प्रकार से सार यह है कि राजाओं का दरबारी कवि, विशेषप्रिय कवि, राजकवि वही हो सकता था जो राजा के व्यक्तित्व से पूर्णतः अवगत होता था, यहाँ तक कि वह उसी की वाणी में बोलते हुए राजा के व्यक्तित्व को मुखरित करनेवाला होता था। यदि राजा वीर होता तो कवि उसकी वीरता का बखान करता और यदि राजा विलासी होता तो ऐसी स्थिति में कवि राजा की मनोवृत्ति के अनुसार रचनाएँ करता। रीतिकाल में शृंगारपरक साहित्य अधिक लिखा गया है, इसी के आधार पर इस युग के दरबार का अनुमान कर लिया जा सकता है। प्रस्तुत निबंध का संबंध इतिहास से होने के कारण शृंगारपरक साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से यदि विचार करें तो इस बात का ज्ञान हो जाता है कि राजाओं का वर्ग किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा था। ऐसी स्थिति उस अवस्था में ही होती थी कि जब राजा स्वयं शासन से हाथ खींच लेता था और मंत्रियों के हाथ में कठपुतली मात्र रह जाता था। किंतु यह स्थिति सब राजाओं की नहीं रही है। ऐसे वीरकाव्य जिनमें इतिहास मुखरित हुआ है और जिनके रचयिताओं के मन में देश के प्रति स्वाभिमान की भावना रही है, उन वीरकाव्यों में जिन नायकों का चरित्र चित्रित हुआ है वे योद्धा रहे हैं, शासक के रूप में शासन करनेवाले रहे हैं। जोधपुर के राजा अभयसिंह का राजकवि रतनभाणू ऐसा ही रहा है। इस काव्य को देखकर शिवाजी के दरबारी कवि परमानंद का स्मरण हो जाता है। परमानंद कवि ने संस्कृत मे शिवभारत की रचना की है जो ऐतिहासिक काव्य है। विद्वानों का कहना है कि शिवभारत एक साथ इतिहास और काव्य दोनों है। इसी तरह रतनभाणू की डिंगल रचना 'राजरूपक' भी एक साथ काव्य और इतिहास है। इसमें अनेक तिथियाँ भी दी गई हैं, इससे इसका ऐतिहासिक महत्व और बढ़ गया है। इतिहास के प्रति यह कवि कितना सचेत था और इतिहास के लिखने में इसके व्यक्तित्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अभयसिंह जब गुजरात के सूबेदार से लड़ने गया था तो उस समय युद्धस्थल मे कवि मौजूद रहा। बाद में इसने काव्य लिखा। कवि समकालीन है, प्रत्यक्ष घटनास्थल पर उपस्थित रहा है अतः इसके लिखने में तथ्यों की भूल की संभावना कम ही है। दूसरी बात कवि स्वाभिमानी भी है। अभयसिंह के दरबार मे रहनेवाले दूसरे कवि आलहावास ग्राम के निवासी करणीदान कवि ने भी 'सूरजप्रकास' नाम का ग्रंथ इसी प्रकार का लिखा। दोनों ही कवियों ने राजा से प्रार्थना की कि ग्रंथ सुना जाय। राजा ने दोनों ही ग्रंथों के विस्तार को देखते हुए कवियों से समयाभाव को प्रकट करते हुए कहा कि इनको संक्षिप्त रूप में लिखकर सुनाएँ। करणीदान ने सूरजप्रकास का सार विड़दसिणगार में लिखा और राजा को सुनाया। महाराजा ने प्रसन्न होकर लाख-पसाव दिया और उसका इतना संमान किया कि कवि को हाथी पर सवार कराया

और स्वयं घोड़े पर सवार होकर उसकी जलेब में (हाजरी में) चले । इस संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है —

> अस चढ़ियो राजा अभौ, करि चाढ़े कवराज ।
> पोहर हेक जलेब में, मोहर चले महाराज ॥

करणीदान के साथ तो यह व्यवहार हुआ किंतु राजरूपक के रचयिता रतन भाणू ने अपने ग्रंथ का सार बनाने में असमर्थता प्रकट की । स्वाभिमानी कवि ने कहा कि मैंने ऐसा ग्रंथ नहीं रचा है जिसका सारांश लेकर छोटा ग्रंथ बन सके । कहीं गागर का जल कुलिया में आ सकता है ? राजा ने फलस्वरूप वह ग्रंथ नहीं सुना और कवि को संमान नहीं मिला । अभयसिंहजी के पाँचवें वंशज मानसिंहजी हुए । वे कविता, गानविद्या और वेदांत में रुचि रखते थे । स्वयं कवि भी थे । उन्होंने रतनभाणू के वंशजों से राजरूपक पूरा सुना वीरभाण के पौत्र को घरोई नामक ग्राम इनायत किया गया । कहते हैं, वह ग्राम अब भी कवि के वंशजों के पास है । इस कथा को इतने विस्तार से इसलिये लिखा गया कि कवियों के स्वाभिमान का इससे परिचय मिलता है । दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि राजाओं की जैसे वंशपरंपरा चलती थी वैसे ही कवियों के वंशज भी अपने आप्त लोगों की कमाई को सुरक्षित रखते थे और यदि योग्यता होती तो उस योग्यता को समृद्ध बनाते । यदि ऐसा संभव न होता तो उसी पूँजी पर जीवित रहते । राजरूपक का संमान कवि के मरने के बाद हुआ और उसका फल उसके वंशजों को मिला ।

अब विषय का उपसंहार करते हुए सार रूप में बात यों कही जा सकती है । हिंदी साहित्य के आविर्भाव काल से ही हमारा देश आक्रमणकारियों से आक्रांत रहा है । स्वाधीन कवियों की वाणी में ही बल हो सकता है, वह बल हिंदी में वीर कवियों की वाणी में मिला है । यह ठीक है कि हमारे देश के ऐतिहासिक और स्वाधीनता में साँस लेने में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों को अपनी बलि देनी पड़ी है । अपने मूल्यों की रक्षा करने में व्यक्तियों अर्थात् राजाओं को ही नहीं बल्कि देश के नरनारियों को भी अपनी आहुति देनी पड़ी है । इन वीर जनों के आदर्शों को कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया है । ऐतिहासिक भूलों के कारण हमारे नेता हार गए । कुछ दूसरे कारण भी हैं, जिनके विस्तार मैं जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है किंतु स्वाभिमानी पुरुषों ने लज्जा का जीवन नहीं बिताया । उन्होंने मरण को अपना पर्व माना । वीरकाव्यों में ये भावनाएँ व्यक्त हुई हैं । मध्यकाल के वीरकाव्य इतिहास के लिये विपुल सामग्री प्रस्तुत करते हैं । आवश्यकता उनको देखने की है । इसका अवलोकन करने से हमें अपने देश की आत्मा का ज्ञान होगा । यदि देश का पतन हुआ तो पतन का ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है । उत्थान का इतिहास

जितना महत्वपूर्ण होता है, उससे कम महत्वपूर्ण पतन का इतिहास नहीं होता। अपनी ऐतिहासिक भूलों को समझने में ये वीरकाव्य बड़े उपयोगी हैं। यही नहीं इनके आधार पर हमें इस बात का ज्ञान भी होता है कि राजा महाराजाओं की महत्वकांक्षाएँ क्या थीं? इन महत्वकांक्षाओं के आधार पर देश के चिंतन का ज्ञान होता है। ऐतिहासिक पुरुष और विशेषकर राजा महाराजा राजनैतिक दृष्टि से सत्ताधारी पुरुष रहे हैं। इनके चिंतन में जितनी स्वाधीनता हो सकती है उतनी अन्य वर्ग के लोगों में नहीं हो सकती। यदि इनका मन दुर्बल रहा तो देश का पतन अवश्य होगा। राजाओं का मानसिक विश्लेषण हमें वीरकाव्यों में या ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है अतः इनका अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। इसी दृष्टि से अध्ययन के प्रयास में कुछ मोटी बातें ऊपर कही गई हैं। पतन के मूल्य को पहचानने से ही उत्थान की दिशाओं को खोजा जा सकता है। यही इन वीरकाव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोग है।

*

विष्णुध्वज के अभिलेख

देवसहाय त्रिवेद

दिल्ली के पास मेहरौली के प्रसिद्ध विष्णुध्वज या कुतबमनार के पाँच खंड हैं। इसके अरबी फारसी अभिलेखों का नीचे से क्रम निम्न प्रकार है। प्रथम खंड के निम्नतम बंध को किसी अज्ञानी ने चौपट कर दिया है। कथित सुधारक ने इसे मनमाने ढंग से उलट पलट कर दिया है। इसमें कुराण के अनेक उद्धरण हैं। ऐतिहासिक महत्व का पाठ इस प्रकार है। मूल पाठ के बाद प्रत्येक का हिंदी रूपांतर दे दिया गया है।

१. अल अमीर अल सिपहसलार अलअ जलल कबीर (कुत्ब)

रूपांतर

सेनापति अमीर महान् यशस्वी (कुत्ब)। ये विशेषण कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६-१२१० ई०) के हैं।

द्वितीय बंध

२. ···रे काबुल वो मम मौला मोत्तुकिल अरब वल अजम आदलुस सलातीन फिल आलम मोइज्जुद दुनिया वद दीन···अलमुलुक वस सलातीन वासेतुल अद्ल वल एह सान···निलझुल लाह फिल खाले कैन अर राई ले एबादिला···ह अलहा मिले बेलादिल्लाह ··अल काएम···असमा अलमनसूर अलल आदा···जलालुल कुम्मैतिल बाहेर फलकुल म आलि···सुलतानुल वर वल बहरे मोहरे जो ममाले फिव दुनिया व मजहरो कलेम तिल लाहे हे एल उल या इसकंदर अस्सानि अबुल मोजफ्फर मुहम्मद बिन साय खलदल लाहू मिल कहू व सुलतानहू व तअा ललहुलजी लाएलाह इल्लाहो वा आलेमुल गैबे वश शाहादते हो वर रहमानुर रहीम।

रूपांतर

जन नियंता, अरब व फारस का स्वामी, विश्व के सभी सुल्तानों में सबसे न्यायी, मुअज्जदुनियावद्दीन···सम्राट् व सुल्तान, न्याय व दया का प्रचारक, पूर्व पश्चिम में ईश्वर की छाया, ईश्वर के दासों का चरवाहा, प्रभु के देशों का रक्षक, दृढ़, आकाश, शत्रु विजेता, महाराष्ट्र का यश, गुणों का आकाश, क्षिति बल सम्राट् विश्वराज्यरक्षक, ईश्वर के वचनों का घोषक, सर्वश्रेष्ठ, द्वितीय सिकंदर अबुल मुजफ्फर

मुहम्मद इब्नसाम। ईश्वर उसके राज्य व शासन को बनाए रखे। अल्ला महान् है। उससे परे कोई ईश्वर नहीं। वह गुप्त व प्रकट सब जानता है। वह दयालु तथा करुण है।

तृतीय बंध

१. बिस्मिल्लाहिर रह्मानिर रहीम

ईना फतह नालक फतहन मुबीनील यव फेरलक अल्लाहो मातकद्दम मिन जंबेक व माता अरव रव योतिम नेमतहू अलैक व वह देयक सेरातम मुस्तकीम।

वमन सोरकल्लाहो नसरन अजीजा, हो वल्लजी अंज़ल असकीनत फी को लुबिलमो मीन लेयज दादहूँ यीमानन मंयीमा नेहीम वलीलाहे जनूदो समावाते बल अर्दे वकानल लाहो अलीमने हकीमले, युद खेलल मुमेनीन वल मु मैनाते जनतीन तजरीमीन तहतेहल अनहारो खालेदीन फीहा वयो कफ़ेर अनहुम सैये आते हिम वकान जालेक इंदलाहे फौजन अजीमोवयो अज्ज़ेबल मुनाफेकीन वल मुनाफे क़ाते वल मुशरेकीन वल मुशरेकातिजानीन बिल्लाहे जनसवाये अलइहिम दायेरतुसुवे वगजेबल्ला हो अल इहिम वल अनहुम व अद्दलहुम जहन्नम वस्साअत मशीरा।

तृतीयबंध कुराण सुरा (स्वर) ४८ छंद १–६ (जय)

रूपांतर

ईश्वर दयालु सर्वशक्तिमान है।

देखो! हमने तुम्हें पूर्ण विजय दी है। अल्ला तुम्हारे भूत व भविष्य पापों को क्षमा कर दे। तुम्हारे प्रति उसकी पूर्ण कृपा रहे और तुम्हें सत्यमार्ग पर ले चले। वह अल्ला तुम्हें पूर्ण सहायता करे। उसी अल्ला ने भक्तों के हृदय में श्रद्धा व शांति प्रदान की जिसमें वे धर्म की अभिवृद्धि करें। स्वर्ग तथा पृथ्वी में अल्ला के ही सेवक हैं। अल्ला सर्वज्ञ चतुर है। वह भक्त नरनारियों को उस उपवन में ले जाय जहाँ नदी बहती है। वे वहीं बसेंगे और वहाँ से अपने पाप कर्मों को दूर कर दें। अल्ला की दृष्टि में वही सच्ची विजय है। दंभ नर-नारियों तथा मूर्तिपूजक स्त्री पुरुषों को तथा अल्ला के विषय में दुर्भावनापूर्ण व्यक्तियों को वह दंड दे। उनके चारों ओर पापों का घेरा है। अल्ला उनसे क्रुद्ध है। उसने उन्हें शाप दिया है। उनके निमित्त नरक तैयार है। वहाँ उनका बुरा हाल होगा।

४. चतुर्थ बंध

अस सुलतानुल मो अजम शाहनशाहुल आजम मालेको रे काबुल वो मम मौला मोख़ुकिल अरब वल अजम सुलतानुससलातीन फिल आलम गो या ख़ुद दुनिया वद दीन मोइज्जुल इस्लामे वल मुसलेमिन मुहिउल अदले फिल आलमीन अहद दौलतिल काहेरते'''अल उम तिल बाहेरते शेहाबुल खेलाफते वा सेबुल ए सामे औलेरा

फते फिल सकलैन जिलमुलताहे फिलख्ला फे कैन अलहामि···बिन साम कसीमो अमीरुल मोमेनीन अनारललाहो बुरहानहू।

रूपांतर

महासम्राट्, राष्ट्रसिंहासनाधिपति, अरब फारस के शासकों का बादशाह, विश्व के राजाओं का राजा, धर्म तथा विश्व का सहायक, इस्लाम तथा मुसलमानों का आश्रयदाता, विश्व में न्याय का स्रोत, महान्, उदार, अयंतसाम्राज्य, पूतराष्ट्राधिवास, उग्रराष्ट्रनेता, खलीफा की उज्वल ज्योति, महामधुर, पृथ्वी पर दया का सागर, दो क्षितिजों के मध्य ईश्वर की छाया, सुरनगररक्षक, ईश्वरदासरक्षक, विश्व में देशों का विजेता, देवीवाणी का प्रकट रूप, विजय का जनक, महम्मद इब्नसाम, भक्तों का नायक। उसके साम्राज्य की वृद्धि हो।

५. पंचम बंध—कुराण सुरा ५९ छंद २२ २१ तथा अल्ला के निन्यानवे विशेषण

रूपांतर

वही ईश्वर है। उससे परे कोई देव[1] नहीं। वही गुप्त व प्रकट का ज्ञाता है। वही रहमान तथा दयालु है। वही ईश्वर है। उससे परे कोई देव नहीं। वह सम्राट् पूत, शांताकार, सर्वरक्षक, योगक्षेमदाता, सर्वसमर्थ, शरणदाता, महाबलिष्ठ, स्वाधीन तथा सर्वमय है। ईश्वर धन्य है। वही सबका मूल है।

६. षष्ठबंध—कुराण सुरा २ छंद २५५–२६०

रूपांतर

वही ईश्वर है। उससे परे कोई देव नहीं। वह सत्य सनातन है। वह अनलस, अनिद्र है। स्वर्ग तथा पृथ्वी में जो कुछ है उसी का है। उसकी इच्छा के बिना कौन उसकी बिनती कर सकता है। वह भूत भविष्य सब जानता है। जितना वह दूसरों को बतलाता है उतना ही उससे अधिक कोई नहीं जान सकता। स्वर्ग तथा पृथ्वी में उसकी चौकी बिछी है। वह चौकसी से नहीं थकता। वह अति उच्च व महान् है।

धर्म में कोई जबर्दस्ती नहीं है। भ्रम से सत्यमार्ग स्पष्ट हो चुका है। अतः जो शैतान से विमुख होकर अल्ला में विश्वास करता है उसने दृढ़ डोरी को पकड़ लिया है। वह डोरी टूटनेवाली नहीं है। अल्ला सर्वज्ञ तथा सर्वश्रोता है।

१. यह आयत कुर्सी कहलाती है और मसजिदों के द्वार पर लिखी जाती है।

ईश्वर श्रद्धालुओं का स्वामी है। वह उन्हें अंधकार से प्रकाश में लाता है। अश्रद्धालुओं का स्वामी शैतान है जो उन्हें प्रकाश से अंधकार में ले जाता है। इनका वासस्थान अग्नि है जहाँ वे सदा रहेंगे।

क्या तू उस मनुष्य को नहीं जानता जिसने अब्राह से प्रभु के विषय में तर्क किया था क्योंकि ईश्वर ने उसे राज्य दिया था। जब अब्राह ने कहा मेरा प्रभु वह है जो जीवन मरण का कारण है तब उसने कहा—मैं भी जीवन देता हूँ तथा मारता हूँ। अब्राह ने कहा—निःसंदेह ईश्वर सूर्य को पूर्व में उदय करता है तो तुम उसे पश्चिम में उदय करो। इस प्रकार वह विधर्मी भौंचक हो गया। ईश्वर दुष्टों का मार्ग दर्शन नहीं करता।

अथवा वह, पुरुष जो नगर से निकला जिसकी छत औंधी पड़ी थी, कहने लगा कि ईश्वर किस प्रकार इसे विनाश के पश्चात् पुनः नगर को बसाएगा। ईश्वर ने उसे मारकर वहीं पर सौ वर्ष तक रखा पुनः उसे जीवित किया और पूछा तू कब तक यहाँ पड़ा रहा। वह बोला मैं दिन भर या कुछ अल्पकाल तक पड़ा रहा हूँ। ईश्वर ने कहा—नहीं तू शतवर्ष तक पड़ा रहा। अब अपने भोजन तथा पेय को देख। वे अब तक उसी दशा में है। अब अपने गदहे को देखो। हम तुम्हारे निमित्त चिह्न बनायेंगे। अस्थियों को देखो। किस प्रकार हम उन्हें एकत्र करते हैं और फिर उनपर मांस चढ़ाते हैं। जब उसने ये सब देखा तब उसकी समझ में आ गया कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है।

और जब अब्राह ने कहा, प्रभो! मुझे दिखावें कि किस प्रकार आप मृतक को जीवित करते हैं। उसने कहा—क्या तुम्हें विश्वास नहीं है। वह बोला—क्यों नहीं। किंतु मैं चाहता हूँ कि मेरे हृदय को शांति मिल जाय। उसने कहा—तुम चार पक्षियों को ले लो। प्रत्येक पर्वत पर उनका एक एक भाग रख दो और उन्हें पुकारो। वे दौड़ते हुए तुम्हारे पास पहुँचेंगे। अब समझ लो कि ईश्वर सर्वसमर्थ तथा धीमान् है।

७. प्रवेश द्वार (प्रथम खंड)

रूपांतर

पैगंबर ने (उसे ईश्वर शांति दे) कहा—जो ईश्वर के लिये मस्जिद बनाता है। उसके लिये ईश्वर स्वर्ग में वैसा ही भवन बनाता है। सम्राट् शमसुद्दीन का मनार भग्न हो गया था। उसका कब्र पवित्र बना रहे। उसे स्वर्ग में स्थान मिले। ईश्वर ने उसे क्षमा दान किया है। बहलोल शाह सुलतान के पुत्र सिकंदर शाह के सुराज्य में। उसके राज्य, शक्ति तथा यश की वृद्धि हो। मसनदे आली खवास खाँ के पुत्र खानजादा फाथ खाँ की अधीक्षता में भग्नांशो को भरा गया तथा उच्च

खंभों की मरम्मत की गई। रबी द्वितीय का प्रथम दिन हिजरी ९०९ (= २२ सितंबर १५०३ ई०)।

मूलपाठ

कालन नबीओ सल्लेलल ला हो अलैहे व सल्लम मन बना मसजेदन लिल्लाहे त आ ला बनल्लाहो लहुफिल जननते बैतन मिसल हू। एमारत मनारह मोबारक हजरत सुलतानुस सलातीन शमसुद्दुनियावद्दीन मरहूम मगफूर ताब सराहो व ब अकाल अजत मसवाहो शिकस्त शुदाबुद मनारा मजकूर दर अहद दौलत सुलतानुल आजम वल मो अजमवल मोकर्र सिकंदर शाह बिन बहलोल शाह सुलतान खल्लदल लाहोमुल्कहू व सुलतानहू व आला अमरहू व शानहू अमल खाँजादा फतह खाँ बिन मसनद आली खवासखाँ ...वदर्ज बंदी व मरतबाहा वाला मरम्मत कर्द मुरत्तब कुनानीदा अल गर्रा मिन माह रबि उल आखिर सन् तीस अ व तीस अमे अत।

८. प्रवेश द्वार के ठीक दक्षिण भाग में

इस मनार का फज्ल अबुलमाली था (रूपांतर)

इ मनारा फज्ल अबुलमाआली बुदंद (मूल फारसी)

९. द्वितीय खंड निम्नबंध

अस सुलतानुल आजम शहनशाहुल मो अज्जम मले को रेका बिल ओमम मोफरवरो मोलुकिल अरब वल अजम जिल लुल्लाहे फिल आलम शमसुद्दुनियावद्दीन गेयासुल इस्लामे वल मुसलेमीन ताजुल मुलूके वस सलातीन...फिल आलमीन बालद दौलतिल काहेरते व जलालुल मिल्लतिज जाहेरते अल मो ऐयदो मिनस समा अल मोजफ्फरो अलल आदा शेहाबो शमल खेलाफते नाशे रुल अद्ले वर्रा फते मोहरे बो मम लेकिद दुनिया व मुजहिरो कले मतिललाहिल उल मा अबुल मुजफर इल तुतमिश अस सुलतानि नासेरो अमीरिल मोमिनीन खल्लदल लाहो मुल्कहू व सुल्तानहू या आला अम्रहू व शानहू।

रूपांतर

महाराज, महासम्राट्, विश्वसिंहासनों का अधिपति, अरब व फारस के स्वामियों से संमान्य, पृथ्वी पर ईश्वर की छाया, विश्व तथा धर्म का सूर्य, इस्लाम तथा मुसलमानों का सहायक, राजाधिराज सम्राट, विश्व में न्याय का सागर, जयंत साम्राज्यों की महत्ता, सुराष्ट्र का मूर्धन्य, स्वर्ग से सहायता पानेवाला, शत्रुविजेता, खलीफाओं के जगत् में उज्वल ज्योति, न्याय व दया का प्रचारक, विश्व में देशों का विजेता, ईश्वर का व्यापक रूप, जय जनक, सुल्तान इल्तुतमिश भक्तों के नायक

का सहायक। उसका देश व राज्य चिरस्थायी हो। उसका आदेश तथा स्थान उच्च हो।

१०. द्वितीय खंड ऊपरी बंध

कुरान सुरा १४ छंद २६-३० तथा सुरा ६२ छंद ६-१०

रूपांतर

वे नरक में जायँगे। वह बुरा स्थान है। वे उसी के भागी हैं। वे ईश्वर का प्रतिस्पर्धी खड़ा करते हैं जिसमें लोग सुमार्ग से भटककर कुमार्ग पर चलते हैं। उनसे कह दो लाभ उठाओ, अन्यथा अग्नि में जाना ही होगा।

हे श्रद्धालु जब शुक्रवार को प्रार्थना की पुकार हो तो ईश्वर को याद करने के लिये दौड़ो। व्यापार छोड़ दो। यह तुम्हारे निमित्त उत्तम है यदि जान लो।

जब प्रार्थना समाप्त हो जाय तब सारी पृथ्वी पर फैल जाओ। ईश्वर का अनुग्रह खोजो। ईश्वर को खूब स्मरण करो जिसमें तुम्हें सफलता मिले।

११. द्वितीय खंड—द्वार

अमर बे इतमामे हाजेहिल एमारह अलमले कुल मो ऐयदो मिनस समा ए शमसुलहक्केवद्दीन इलतुतमिश अल कुतबी नसीरो अमीरिल मोमिनीन।

रूपांतर

इस इमारत को पूरा करने का आदेश राजा ने दिया जिसकी सहायता स्वर्ग करते हैं। शमसुलहकवद्दीन इलतुतमिश कुत्ब का दास, भक्तजनों के नायक का सहायक।

१२. तृतीय खंड

अल सुलतानुल मोअज्जम शाहंशाहुल आजम माले को रेका बिल बो मम मौला मुलुकिल अरब वल अजम सुलतानुस सलातीन फिल आलम हाके जो वेला दिल्लाह नासेरो…खलीफतुल्लाह…अलइस्लामे वल मुसलेमीन गेयासुलमुलुके वस सलातीन अल हामीले बेलादिल्लाह अरराई ले एबादिल्लाह यमीनुल खेलाफते वासेतुल अदले वर राफते अबुल मोजफ्फर इलतुतमिश अस सुल्तानी नसीरो अमीरिल मुमीनीन खल्लदल्लाहो मुल्कहू व सुल्तानहू व अम्रहू व शानहू।

रूपांतर

महासुलतान महासम्राट जननियंता, अरब व फारस के राजाओं का स्वामी, विश्व में राजाधिराज, ईश्वर की भूमि का रक्षक, सहायक, ईश्वर का खलीफा, इस्लाम तथा मुसलमानों का…राजा व सुल्तानों का सहायक, ईश्वर के राज्यों का सुरक्षक, ईश्वर के दासों का चरवाहा, खिलाफत का दाहिना हाथ, न्याय व दया]

का प्रचारक, अबुल मुजफ्फर इल्तुत्मिश सुलतान (का दास), भक्तनायकों का सहायक, प्रभु उसका राज्य व शासन बनाए रक्खे तथा उसकी शक्ति व पद की वृद्धि हो।

१३. तृतीय द्वार

अस सुल्तानुल मोअज्जम शाहनशाहुल अजम मालेको रेका बिल उमम्। फाखेरो मोअफिल अरब वल अजम अल मोऐयदो मिनस समा अल मोजफ्फरो अललल आदा सुल्तानो अरजिल्लाह हाफेजो बेल दिल्लाह नासेरो एबादिल्लाह मुइरेजो ममालेकिद दुनिया मुजहेरो कले मतिल्लाहिल उल या जलालुद्दौलतिल काहे रते निजामुलमिल्लतिल जाहेरते शमसुद्दनिया व दीन गेयासुल इस्लामे वल मुस्लेमीन जिल्लुल्लाहे फिल आलम अलताजुल उमम वल खेलाफते मायतुल अदले कराफते सुल्तानुस सलातीन अदौलते वल मिल्लते इलतुत्मिश अस सुल्तान यमीनो खली फतिल्लाह नासेरो अमीरिल मोमीनीन।

रूपांतर

महासुल्तान, महासम्राट् जननियंता, अरब व फारस के राजाओं से स्पर्धा करनेवाला, स्वर्ग से सहायता पानेवाला, शत्रुओं का विजेता, ईश्वर की भूमि का सुल्तान, ईश्वर की भूमि का रक्षक, ईश्वर के दासों का सहायक, विश्व के राज्यों का प्रतिष्ठाता, महेश्वर के शब्दों का प्रचारक, जयंत शासन की ज्योति, पूत धर्म का शासक, शमसुद्दीनियावदीन, इस्लाम तथा मुसलमानों का सहायक, संसार में ईश्वर की छाया, जन व सम्राट् मणि, न्याय व दया का स्रोत, साम्राज्य तथा धर्म का राजाधिराज, ईश्वर के खलीफा का दाहिना हाथ, भद्रालुनायकों का सहायक।

१४. द्वार भाग में (तृतीय खंड)

तम्मत हाजेहिल एमारतो फिनौबतिल अब दिलमुजनिब मोहम्मद अमीर कोह।

रूपांतर

यह इमारत तैयार की गई मोहम्मद अमीर कोह, दासों का अधीक्षक, पापात्मा, की देखरेख में।

१५. चतुर्थ खंड

अमर बेहाजेहिल इमारते कि ऐयामिद दौलतिस सुल्तानिल आजम शाहंशाहिल मोअज्जम मालिके रेकाबिल उमम्। मौला मुलुकित तुर्के वल अरबे वल अजम शमशिद्दुनियावद्दीन मोरअजिल इस्लामे वल मुस्लेमीन जुल अम्नेवल अमान वारे सो मुल्के सुलैमान अबुल मुजफ्फर इलतुत्मिश अस्सुल्तान नासिरो अमीरिल मोमनीन।

रूपांतर

इस इमारत को पूर्ण करने की आज्ञा महासुल्तान महासम्राट् जननियंता, तुर्क, अरब व फारस के राजाओं के स्वामी शमसुद्दुनियावदीन के राज्यकाल में दी

गई। जिसने इस्लाम व मुसलमानों को शक्तिशाली बनाया। जो शांति व सुरक्षा प्रदान करता है, जो सुलैमान के राज्य का उत्तराधिकारी है, अबुल मुजफ्फर इल्तुत्मिश सुल्तान (ऐबक) का गुलाम, भक्तनायकों का सहायक।

१६. पंचम खंड – द्वार

दरीन मनारा सुहूर सन् सबईन व सब अमेअत व आफते बर्क रसक्षराह बायता बुद् बे तौफीक रब्बानी वर गोजी दए एनायते सुबहानी फिरोज सुल्तानी इन मुकामरा बे एहतैहात तमाम एमारत कर्द खाले के बे चून इन मोकामरा अज जमीं व आफात मसउन दारद।

रूपांतर

यह मीनार बिजली एवं तूफान से सन् ७७० (१३६६ ई० १२६१ शाके) में भग्न हो गया। परमात्मा के अनुग्रह से फिरोज सुल्तान ने जिसके ऊपर महापूतात्मा की अत्यंत कृपा है, इस मुकाम के अंश को सावधानी से बनवाया। अज्ञात सृष्टिकर्ता इसे आपत्तियों से बचावे।

इन अभिलेखों में केवल प्रथम, सप्तम का आद्यंश, अष्टम तथा सोलहवाँ अभिलेख फारसी भाषा में उत्कीर्ण है। शेष अभिलेख अरबी भाषा तथा तोघरा लिपि में है।

इन अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस विष्णुध्वज बनाम कुतबमनार पर अरबी फारसी के कुल १६ अभिलेख हैं। इनमें तृतीय, पंचम, षष्ठ तथा दशम अभिलेख कुरान के उद्धरण मात्र हैं। उनका ऐतिहासिक महत्व प्रायेण शून्य है। शेष अभिलेखों में महम्मद गोरी के दो, इल्तुत्मिश के चार, फिरोजशाह तुगलक तथा सिकंदर लोदी प्रत्येक के एक एक अभिलेख हैं। इनके सिवा कुतुबुद्दीन का एक अभिलेख अस्पष्ट है। इसका अभियंता मोहम्मद अमीर कोह तथा स्यात् मुअज्जम फजल अबुलमाली था। इन अभिलेखों में कहीं भी संकेत नहीं है कि इसे इल्तुत्मिश ने बनवाया। उसने इसे केवल पूर्ण करने का आदेश दिया। यह एकादश अभिलेख से स्पष्ट है। लेखक के मत से इसका निर्माता समुद्रगुप्त[३] (खी० पू० ३२०–२६६) गुप्त सम्राट् है। यह एक वेधशाला का केंद्रीय ध्वज या स्तंभ था। इसका प्राचीन नाम विष्णुध्वज है।[४]

*

२. हिस्टारिकल मेमायर आव दी कुतब, पेज लिखित, आर्कियोलाजिकल सर्वे, संख्या २२, १९२६।

३. विष्णुध्वज, चौखंभा, १९६२।

४. इंडियन क्रानोलाजी, भारतीय विद्याभवन, १९६३।

५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६२, पृ० ३०३–११।

नागरकृतागम में राजा और राजव्यवस्था का स्वरूप

कु० देवकी अहिवासी

•

नागरकृतागम का परिचय—नागरकृतागम जावा के मजपहित् काल[1] का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक 'कवि'[2] ग्रंथ है। इस ग्रंथ का वास्तविक नाम 'देशवर्णन' है। इस नाम का उल्लेख ग्रंथ के लेखक 'रकवि'[3] प्रपंच ने ९४वें सर्ग में किया है। सर्वप्रथम यह ग्रंथ १८ नवंबर १८९४ में लंबोक द्वीप मे स्थित चक्र नगर के राजकीय प्रांगण में विद्वान डा० ब्रांड्स को मिला था। अंत में लिखी परिचयात्मक कडिका[4] में ग्रंथ का नाम नागरकृतागम लिखा पाया और इसे ही डा० ब्रांड्स ने वास्तविक नाम मानकर इसका प्रकाशन किया। तभी से विद्वानों में यह नाम प्रचलित हो गया। मूल ग्रंथ लायडन् विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है।[5]

सर्वप्रथम १९०२ में डा० ब्रांड्स ने बलि लिपि में इसे प्रकाशित किया। १९०३ से १९१४ तक डच विद्वान् कैर्न ने इसका अनुवाद और टिप्पणी सहित उसका थोड़ा थोड़ा भाग प्रकाशित किया। १९१७–१८ मे प्रथम बार संपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ। १९१९ में डच् विद्वान् क्रोम ने ग्रंथ को कुछ संशोधन के साथ पुनः

१. मजपहित् राज्य की स्थापना सिंह-सारी राजवंश के अंत के पश्चात् राजकुमार विजय (राजा होने पर कृतराजस् जयवर्धन नाम रखा) ने लगभग १२९४ ई० में की। मजपहित् नगर राजधानी थी। मजपहित् शब्द संस्कृत शब्द 'बिल्व तिक्त' का भाषांतर है। नागरकृतागम मे इस वंश के शासक हयम्‌वुरुक् (१३५०—१३८९) तक का इतिहास मिलता है। १५वीं शताब्दी के अंतिम चरण में जावा के इस महत्वपूर्ण हिंदू राज्य का अंत हो गया।

२. कवि—ओल्ड जावानीज–मध्यकालीन जावा की साहित्यिक भाषा।

३. रकवि–राजकवि की उपाधि (र=आदरार्थ आदिसर्ग)।

४. १८वीं शती के एक बालि के विद्वान ने इस कवि ग्रंथ की बालि भाषा में ताड़पत्र पर प्रतिलिपि तैयार की और अपनी ओर से अंत में एक परिचयात्मक कंडिका भी दी।

५. इसकी संख्या सी ओ ड़ी एल्स ओ आर ५०२३ है।

प्रकाशित किया। १९४८ में श्री थोमस पिग्वायड् ने इसके संपादन का कार्य अपने हाथ में लिया और अनुवाद, टीका एवं विस्तृत व्याख्या सहित पाँच भागों में इस ग्रंथ को विद्वत् जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया।[६] अन्य समकालीन आवश्यक ग्रंथों और राजादेशों को भी पिग्वायड् ने इसके साथ प्रकाशित किया। पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने संपूर्ण नागरकृतागम को विषय की दृष्टि से ९५ अध्यायों में विभाजित कर दिया है।

समय—'देशवर्णन' (नागरकृतागम) को १३६३ ई० में प्रपंच नामक राजकवि ने मजपहित् शासक हयम् वुरुक् के शासन काल में लिखा। मजपहित् काल राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जावा का स्वर्णयुग था। इस काल में जावा की चतुर्दिक् उन्नति हुई। राज्य की सीमाएँ दूर दूर द्वीपों तक फैली हुई थीं तथा अनेक पड़ोसी देशों से जावा के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित हो चुके थे। जंबुद्वीप (भारत), गौड़ (बंगाल), कर्नाटक, कंबोज, स्याम और चीन से बड़ी संख्या में व्यापारियों, भिक्षुओं, और विद्वानों का आदान प्रदान होता था। इस काल में निर्मित पनतरन के मंदिरों में उत्कीर्ण रामायण और महाभारत के दृश्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस युग का साहित्य एवं दर्शन तो पूर्णतः भारत से अनुप्राणित है। राजकवि भारतीय छंदों में संस्कृत काव्य परंपराओं के अनुकूल साहित्य की सृष्टि करते थे। 'आगमों', 'सांख्य', 'नैयायिक' 'वेद' 'साम जप' (सामवेद) और 'सतकर्मसुधा' मे पारंगत विद्वान् बौधादित्य, मूतलिसुहृदय, भामन तथा विष्णु आदि कई भारतीय विद्वान् राजा हयम् वुरुक् के दरबार में राजा की प्रशंसा में संस्कृत काव्यों की रचना करते थे।

लेखक—ग्रंथ का लेखक प्रपंच भी राजसभा में विद्वत् समाज का एक आदरणीय सदस्य था। वह स्वयं धर्माध्यक्ष था। नागरकृतागम के अंतिम अध्याय में इसके दो नाम मिलते हैं—प्रपंच और विनाद। काव्य में विनाद नाम कई स्थलों पर आया है। संभवतः विनाद कवि का वास्तविक नाम था। प्रपंच नाम का प्रयोग विशेष रूप में राजकीय उपाधि 'रकवि' के साथ हुआ है। अतः यह उपनाम प्रतीत होता है। प्रपंच का पिता नादेंद्र भी धर्माध्यक्ष एवं कवि था। प्रपंच ने अनेक काव्यों की रचना की जिनकी सूची नागरकृतागम के ९४वें सर्ग में दी है।[७]

६. पिग्वायड् थियोडोर जी थोमस, जावा इन दि फोर्टींथ सेंचुरी, ५ खंडों में, दिहेग—मार्टीनस निज्होफ, १९६०।

७. इसके अन्य ग्रंथों की सूची जो ९४वें सर्ग में दी है इस प्रकार है—
१. शककाल २. लंबक ३. पर्वसागर ४. भीष्मशरण—महाभारत

कवि ने इस ग्रंथ में इसके 'देशवर्णन' नाम के अनुरूप ही मजपहित् राज्य के इतिहास और भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सजीव चित्रण किया है। इसमें वर्णित मुख्य विषय, जिसका स्पष्ट वर्गीकरण डा० पिरवायड् ने किया है संक्षेप में इस प्रकार है—मजपहित् के राजकीय परिवार का परिचय, मजपहित् राजधानी की नगर योजना का विस्तृत वर्णन, मजपहित् और उसके सामंतों और पड़ोसी देशों के बीच संबंध, राजा की राजकीय यात्राएँ, मजपहित् राज्य के धार्मिक क्षेत्रों का वर्णन, सिंहसारी राज्य और उसके आसपास के नगरों और बस्तियों का वर्णन, राजा की सिंहसारी एवं अन्य प्रांतों की राजयात्राओं का वर्णन, राजपत्नी के श्राद्धोत्सव का विस्तृत वर्णन, सिम्पिङ की राजयात्रा का विवरण, प्रधानमंत्री गजमद की मृत्यु एवं नए मंत्रिमंडल की स्थापना का वर्णन, धार्मिक क्षेत्रों और मंडलों (धार्मिक बस्तियों) का वर्णन, धर्मव्यवस्था और राजकीय स्वामित्व का वर्णन तथा वार्षिक राजोत्सव का वर्णन।

यह ग्रंथ यद्यपि शुद्ध रूप से ऐतिहासिक और राजनैतिक दृष्टिकोण को लक्ष्य मानकर नहीं लिखा गया, परंतु प्रसंगवश शासन व्यवस्था, राजा, राजा के कर्तव्यों, अर्थव्यवस्था, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था संबंधी जो उल्लेख मिलते हैं वे इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं।

द्वीपांतर[८] के प्राचीनतम संस्कृत शिलालेख और यूप प्रमाणित करते हैं कि ५वीं शताब्दी के बहुत पूर्व ही द्वीपांतर में भारतीय शासनप्रणाली स्थापित हो चुकी थी। यहाँ के शासक विष्णु और ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे। वे भारत के समान ही संस्कृत मंत्रों के उच्चारण सहित विराट यज्ञ करते थे[९] एवं सुवर्ण मंडित शृंगोंवाली सहस्रों गाएँ दान में देते थे। भारतीय श्रुति और स्मृति यहाँ धर्म और नीति के प्रमुख स्रोत थे।[१०] शताब्दियों तक मनुस्मृति और मानवधर्मशास्त्र के नियमों के

पर आधारित ५. सुगतपर्ववर्णन—बौद्ध जातककथाओं पर आधारित।

८. द्वीपांतर या नूसांतर = द्वीपों का समूह = इंडोनेशिया।

९. कोर्तियों से राजा मूलवर्मा का संस्कृत शिलालेख (५वीं शताब्दी पूर्वार्ध)- -

श्री मूलवर्मा राजेंद्र : यष्टा बहुसुवर्णकम्।
तस्य यज्ञस्य यूपोऽयं द्विजेन्द्रैस्संकल्पितः॥

डा० चौंडा, संस्कृत इन इंडोनेशिया, पृ० १६।

१०. सारसमुच्चय श्लोक ४३ ''' सं त्य' श्रुति। लवन् संज्ञा' स्मृति। सिर ज्ञुग प्रमाणाकन। तूलकन बरवर: निर। रिं असिं प्रयोजन। यावत् मङ्कन्

आधार पर समाज, धर्म एवं न्याय व्यवस्था चलती रही। यह व्यवस्था १४वीं शताब्दी (मजपहित् काल) तक बनी रही, यद्यपि समय की आवश्यकता एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल कई स्थानीय तत्वों का भी समावेश होता रहा। १५वीं शताब्दी में मुस्लिम सत्ता स्थापित होने के पश्चात् भी द्वीपांतरवासी अपने को धर्म से मुस्लिम परंतु संस्कृति से हिंदू ही मानते रहे।

राजा की शक्ति, योग्यता, एवं कार्य

संस्कृत शब्दों से समृद्ध कवि ग्रंथ नागरकृतागम में अन्य समकालीन कविग्रंथों, शिलालेखों तथा राजादेशों से प्रसंगवश राजा और शासनव्यवस्था संबंधी जो उल्लेख मिलते हैं उनमें एक सुविकसित भारतीय राज्य और शासन प्रणाली की झलक मिलती है, जिसमें सर्वोच्च शक्ति का केंद्र राजा था। नागरकृतागम में राजा के लिये नरेंद्र, राजेंद्र, नृपति, प्रभु, देवप्रभु, महाराजा राजाधिराज, भटार, अनूसनाथ, नरपति, नरनाथ भूपाल आदि संबोधन राजा की सर्वोच्चता के प्रतीक हैं।

राजा का देवत्व—प्राचीन भारतीय मान्यताओं के अनुकूल ही जावा में भी राजा को दैवी शक्तिवाला माना जाता था। राजपरिवार को 'देववंश'[११] और राजा को 'देवमूर्ति', 'दैवी अवतार'[१२] कहा जाता था। महाराजा राजस् को साक्षात् गिरींद्रशिव का पुत्र कहा गया है।[१३] यह भी विश्वास प्रचलित था कि शासक अपनी दैवी शक्तियों द्वारा लोगों के कष्टों का नाश कर सकता है।[१४]

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में अनेक उल्लेख मिलते हैं कि राज्याभिषेक के समय राजा के शरीर में विभिन्न सात देवताओं के अंश का समावेश होता है।[१५] नागर-

परिपूर्ण्यां हलप् सं हां धर्म्मं प्रवृत्ति'। गौतम १।१।२ और मनु १।६ में भी यही विचार दिए हैं। सारसमुच्चय महत्वपूर्ण कविग्रंथ है, जिसमें 'अष्टादश पर्व' (महाभारत) के श्लोकों का संकलन वररुचि नामक विद्वान् ने किया और उसकी विस्तृत कविटीका भी दी है।

११. नागरकृतागम्, १३।५४—अपन् देव वंशाथवा देवमूर्ति।

१२. वही, ९१।२।४ तथा ४१।५।४।

१३. कूनि शकाब्दि धराम्नु इन् सिर महानाथ युद्धेकवीर। साक्षात् देवत्व-कायोनिजलनय रकस् श्री गिरींद्रप्रकाश। ना० कृ०, ४०।१।१-२।

१४. वही ७३।३।

१५. शुक्रनीति, १।६२, पृ० २१। गंगाप्रसाद शास्त्री द्वारा अनूदित, मानव धर्म शास्त्र में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं।

कृतागम् में भी राजा की तुलना सात देवताओं से की गई है। ये सात देवता हैं—सूर्य, चंद्र, शतमन्यु (वर्षा), पितृपति, वरुण, वायु और पृथ्वी।[१६] वास्तव में सात देवताओं से राजा की तुलना उसके संवैधानिक और लोक हितकारी कार्यों की ओर संकेत करती हैं। सूर्य के रूप में राजा समस्त पृथ्वी पर दिग्विजय करनेवाला तथा 'सकल भुवन' को 'तिमिर रूपी शत्रुओं' से मुक्त करनेवाला है। सूर्य के प्रकाश से ही श्वेत कुमुद रूपी सज्जनों की रक्षा होती है। शतमन्यु के रूप में वह ग्राम और नगरों को धनधान्य से परिपूर्ण करनेवाला और अकाल आदि संकटों से रक्षा करनेवाला है। पितृपति के रूप में वह संसार के दुष्ट व्यक्तियों को दंड देनेवाला और सज्जनों का रक्षक है। वरुण के समान वह देश को समृद्ध करता है तथा वायु के समान दूतों की सहायता से 'सकल लोक' का निरीक्षण कर शांति और सुव्यवस्था स्थापित करता है। पृथ्वी के रूप में वह समस्त प्राणियों का आश्रयदाता है। उपर्युक्त दैवी गुण शासक को राजपद ग्रहण करते समय उपलब्ध होते थे। अतः व्यक्तिगत महत्व की अपेक्षा राजपद का महत्व अधिक था, जिसके ग्रहण करने से वह विशाल राज्य का स्वामी होता था एवं विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का भार उसे सम्हालना पड़ता था।

राजा ही नहीं राजपरिवार के अन्य सदस्यों को भी देवताओं का अवतार माना जाता था। राजपत्नी को राजकार्य में सहायता देनेवाली उसकी बड़ी पुत्री त्रिभुवनोत्तुंगदेवीजयविष्णुवर्धनी को एक अभिलेख में लक्ष्मी का आवतार कहा है।[१७] राजपत्नी को भगवती और लक्ष्मी का अवतार माना जाता था, जो राज्य में सुख और समृद्धि का कारण थी। मरणोपरांत बौद्ध देवी प्रज्ञापारमिता के रूप में उसकी प्रतिमा स्थापित की गई।[१८] नागरकृतागम में कई स्थानों पर राज-

१६. ना कृ० सर्ग ७ के प्रथम ३ श्लोक। प्रयाग प्रशस्ति में भी समुद्रगुप्त की तुलना कुबेर, वरुण, इंद्र तथा अंतक से की गई है—'धनदवरुणेन्द्रान्तक-समस्य'। सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, डी० सी० सरकार, पृ० २५६।

१७. मजूमदार, सुवर्णद्वीप, खंड १, पृ० ३२६।

१८. जावा में मृत्यूपरांत राजपरिवार के सदस्यों की बौद्ध या हिंदू देवताओं के रूप से मंदिरों में प्रतिमाएँ स्थापित करने की सामान्य प्रथा थी। भारत में भी संभवतः मृत्यूपरांत राजा की प्रतिमा बनाकर मंदिरों में स्थापित की जाती थी। इस प्रकार के कुछ उल्लेख कुषाण लेखों, भास के नाटकों

यात्राओं के समय राजा द्वारा चेंडियों[१९] में जाकर देवताओं के रूप में अपने पूर्वजों की प्रतिमाओं पर पुष्प तथा भेंट आदि चढ़ाने का उल्लेख है।[२०]

राजा को दैवी शक्तिवाला मानने के मूल में संभवतः यही कारण था कि प्रजा में सर्वोच्च शक्ति के रूप में उसका आदर हो, सभी उसकी आज्ञा का पालन करें तथा राजपद की प्रतिष्ठा स्थापित हो।

राज्याभिषेक संस्कार—राज्याभिषेक के अवसर पर द्वीपांतर के राजा विभिन्न नाम एवं उपाधियाँ धारण करते थे—उदाहरण स्वरूप सिंहोक् (१०वीं श०) का राज्याभिषेक के समय 'श्रीईशानधर्मोत्तुंगदेव' तथा उसके दौहित्र का 'श्री मुकुटवर्धन' नाम रखा गया।[२१] मजपहित् राज्य के संस्थापक राजकुमार विजय का राज्याभिषेक के समय रखा नाम 'कृतराजसजयवर्धन' था[२२] एवं उसके पुत्र जयनगर का नाम 'सुंदर पाण्यदेवाधीश्वरविक्रमोत्तुंगदेव' था। राजकुमार हयम्वुरूक् का नाम 'श्री राजसनगर' रखा गया।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन जिन देशों में हिंदू राज्य स्थापित हुए वहाँ शताब्दियों तक रीतिरिवाज, उत्सव और संस्कार आदि की परंपराएँ भारतीय रहीं। मलाया और स्याम में अभी तक भारतीय ढंग से राज्याभिषेक संस्कार संपन्न होते थे।[२३] जावा में भी निःसंदेह १४वीं श० में भारतीय परंपराओं के अनुसार ही राज्याभिषेक संस्कार का उत्सव संपन्न होता रहा होगा।

आनुवांशिक राजपद—जावा के इतिहास से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से वहाँ राजपद आनुवांशिक हुआ करता था। यह प्रथा मध्य युगतक बनी रही। राजा

और कालिदास के रघुवंश में मिलते हैं। यह प्रथा भारत में संभवत मध्ययुग तक थी। इस बात का संकेत पद्मावत की इस पंक्ति से मिलता है—'तब लगि चित्रसेन सिव साजा'', पद्मावत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८३, १७९ की टीका।

१९. चंडी=मंदिर।

२०. ना कृ०, ३७।७, पृ० ११४ चतुर्थ अध्याय।

२१. मजूमदार, हिंदू कालोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० ४४।

२२ वही, पृ० ६१।

२३. डा० खोसा, संस्कृत इन इंडोनेशिया, पृ० २१।

का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हुआ करता था, परंतु पुत्र के अभाव में पत्नी, पुत्री अथवा अन्य निकट संबंधी राजपद का अधिकारी होता था।[२४]

राजा की योग्यताएँ—राजा पर संपूर्ण राज्य की उन्नति निर्भर होती है। हजारों प्राणियों की सुरक्षा का भार उसपर होता है। अतः शासक के लिये योग्य, अनुभवी, प्रभावशाली एवं कर्तव्यपरायण होना अत्यंत अवश्यक होता है। परंतु शासक के अयोग्य होने पर सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाता है, जनता में विद्रोह होने लगते हैं तथा देश पर कष्टों का पहाड़ आ पड़ता है। उस समय प्रजा राजा को उसी प्रकार त्याग देती है जिस प्रकार पति अपनी दुश्चरित्र पत्नी को त्याग देता है।[२५]

भविष्य में योग्य अनुभवी और कर्तव्यपरायण शासक बने इस कारण बचपन से ही भावी शासक को राजकार्य, अस्त्र-शस्त्र, धर्म, नीति, व्याकरण आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। नागरकृतागम में कृतनगर को तर्क और व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता कहा है। वह 'षडंग राजनीति' में प्रवीण और 'सुभूतितंत्र' का विद्वान् था। 'पूजा, योग और समाधि' का उसे अच्छा अभ्यास था। तत्वोपदेश पर लिखे ग्रंथों का उसने गहरा अध्ययन किया था।[२६]

द्वीपांतर के प्रत्येक नीतिग्रंथ में राजा के लिये रणवीर होना आवश्यक बतलाया है। अतः स्पष्ट है कि सैनिक शिक्षा भावी शासक को बाल्यावस्था से ही दी जाती थी। श्लोकांतर में कहा है कि राजा को स्त्रियों के मध्य मधुर भाषी, पंडितों की सभा में तत्वज्ञानी और शास्त्रों का ज्ञाता तथा रणभूमि में सिंह के समान साहसी और वीर होना चाहिए।[२७] एक अन्य श्लोक की कविटीका में कहा है कि राजा भूमि का स्वामी, देश का नेता एवं संरक्षक होता है। उसके हाथ में असीम शक्ति, धन तथा साधन होते हैं। असंख्य मंत्री, कर्मचारी और दास उसकी सहायता और सेवा में लगे रहते हैं। इस प्रकार समस्त साधनसंपन्न शासक भी यदि

२४. जावा की राजनीति में यह बात महत्वपूर्ण है कि वहाँ स्त्रियों को राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, जो कुशल शासक के समान राज्य का संचालन करती थीं और राज्य में अनेक उच्चपद प्राप्त करती थीं।

२५. श्लोकांतर, श्लोक ३२।

२६. ना० कृ०, ४३।२,३, ४।

२७. सिंहाकृती रणमध्ये स्त्री मध्ये मधुरं कथः।
मुनि मध्ये तु तत्वज्ञः सयुक्तोनरं गतः ॥ श्लोकांतर, श्लो० १९।

रणक्षेत्र में शत्रुओं को पीठ दिखाता है तो उसका समस्त गर्व चूर्ण हो जाता है और अगले जन्म में वह विकलांग होता है। अतः राजा को युद्धभूमि में पराक्रमी होना चाहिए।[२८] सारसमुच्चय का लेखक भी इसी प्रकार विचार प्रकट करते हुए कहता है कि कायर और भीरु राजा पाप का भागी है।[२९] उपयुक्त ये नियम नीति ग्रंथों तक ही सीमित नहीं थे, उनका पालन भी किया जाता था। नागरकृतागम के अनुसार जावा के शासक 'युद्धैक वीर', 'शत्रुंजय', शूरातिदक्ष'[30] और दिग्विजय के हेतु 'भुवन' को शत्रुओं से रिक्त करनेवाले थे।[31]

राजकुमारों को ही नहीं राजकन्याओं को भी सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी जिससे वे समय पड़ने पर सफल शासक सिद्ध हो सकें। ना० कृ० से ज्ञात है कि कृतनगर की बड़ी पुत्री राजपत्नी बौद्ध दर्शन और साहित्य की विदुषी थी। बौद्ध भिक्षुणी होते हुए भी उसने अपनी पुत्री त्रिभुवनोत्तुंगदेवीजयविष्णुवर्धनी की सहायता से कुशल शासक के समान राज्य का संचालन किया। उसकी विद्वत्ता और आध्यात्मिक ज्ञान के कारण ही मृत्यूपरांत उसे प्रज्ञापारमिता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। दह की राजकुमारी राजदेवी 'षड्गुण' संपन्न थी।

शासक के लिये एक अन्य योग्यता उच्चकुल का होना थी जो जावा के नीति ग्रंथों से ध्वनित है। जिस प्रकार वेदाध्ययन छोड़ देने पर भी ब्राह्मण समाज मे पूज्य होता है उसी प्रकार राजा के पास सेना, कोष, सेवक आदि कुछ भी न होने पर भी केवल उच्चकुल में उत्पन्न होने के कारण ही सब उसका आदर करते हैं।[32] परंतु कुलीन होना ही राजा होने के लिये पर्याप्त नहीं था। उच्चकुलोत्पन्न, वेदों, सांख्य और पुराणों का ज्ञाता होते हुए भी यदि वह शीलविहीन तथा क्रोधी है तो उपयुक्त समस्त गुण निरर्थक हैं[33] और जनता को एवं मंत्रियों को उसे त्याग देना चाहिए।[३४]

द्वीपांतर के नीति ग्रंथों में शासक के धर्मपरायण होने पर बहुत बल दिया गया है। जो शासक धर्मशील है, जिसने अपनी इंद्रियों को वश में कर लिया है,

२८. श्लोकांतर, श्लो० २८।
२९. सारसमुच्चय, श्लो० ६१।
३०. ना० कृ०, ४०।१।
३१. वही, ७।१।
३२. श्लोकांतर, श्लो० ५१।
३३. सारसमुच्चय, श्लो० १७०।
३४. श्लोकांतर, श्लो० ३९।

जो विद्या द्वारा विनीत है एवं जो अपनी पत्नी से तुष्ट है और अन्य स्त्रियों का माता के समान आदर करता है उसके लिये संसार में किसी प्रकार का भय नहीं है।[35] पूर्वजन्म के सत्कर्मों के फलस्वरूप ही शासक राजपद का अधिकारी होता है। यदि वह धर्म का अनुसरण नहीं करता, यज्ञ, दान, वेदाध्ययन और सत्य बोलना त्याग देता है तो वह उसी प्रकार अच्छे फलों की प्राप्ति नहीं कर सकता जिस प्रकार परिश्रम किए बिना एवं अच्छे बीज बोए बिना कृषक अच्छी फसल नहीं प्राप्त कर सकता। यदि राजा धर्मपरायण नहीं है तो मरुभूमि के कटीले वृक्षों के समान ही उसमें 'षड्दोष' उत्पन्न होने लगते हैं।[36] नागरकृतागम से स्पष्ट है कि जावा के शासक स्वभाव से ही धर्मपरायण थे। वे धर्मशास्त्रों के ज्ञाता होते थे। समय-समय पर धार्मिक उत्सवों में वे अपनी प्रतिज्ञाएँ दोहराते थे तथा बड़ी संख्या में ब्राह्मणों को दान आदि देकर तुष्ट करते थे। इतना ही नहीं वे अपने व्यस्त जीवन का निश्चित भाग व्रत पूजा, योग और समाधि में लगाते थे।[37] लोकहित के लिये वे विराट यज्ञ किया करते थे। स्वर्ग की कामना और नरक के भय के कारण सदा धर्मशास्त्रों के बताए नियमों का अनुसरण करते थे।

राजपद का महत्व—शासक राज्य का प्राण समझा जाता था। शासक-विहीन राष्ट्र निर्जीव शरीर के समान माना जाता था।[38] वररुचि तो यहाँ तक कहते हैं कि नृपहीन राष्ट्र उसी प्रकार पाप का भागी होता है जिस प्रकार रानी संन्यासी, मूर्ख वक्ता तथा स्नेहहीन प्रजा पाप की भागी है।[39] राजा का समाज में देवतुल्य आदर होता था। देवप्रभु,[40] नरनाथ, परमेश्वर, गिरींद्रपुत्र, जगत्-संरक्षक एवं द्वापर प्रभु,[41] आदि संबोधन उसके सर्वोच्च स्थान को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं। धार्मिक उत्सवों तथा राजसभाओं में राजा का सिंहासन सर्वोच्च धरातल पर होता था। प्रत्येक कर्मचारी तथा सामंतगण उसे झुककर दंडवत् करते थे। केवल अपतिः (प्रधान मंत्री) न्युध्यक्ष (न्यायाधीश) एवं राजपुरोहित आदि कुछ सर्वोच्च अधिकारियों को ही यह विशेषाधिकार

३५. वही, श्लो० १६।
३६. श्लोकांतर, श्लो० ४१ की टीका।
३७. ना० कृ०, ४३।३।३।
३८. सारसमुच्चय, श्लो० २८६।
३९. वही, श्लो० ६८।
४०. ना० कृ०, ४३।७।४।
४१. वही, ५३।४।

प्राप्त था कि वे अंजलि द्वारा राजा का अभिवादन कर सकते थे।[४२] द्वीपांतर में ही नहीं अन्य देशों के लोग भी राजा का आदर करते थे। अनेक देशों के विद्वान् राजदरबार में राजा के लिये प्रशंसात्मक काव्यों की रचना करते थे। कांचीपुरी (कांजीवरम्) के पंडित् बुद्धादित्य ने 'भोगावली' की रचना राजा हयम्वुरूक् के यशोगान के रूप में की तथा अन्य विद्वान् मूतलि सुहृदय ने कई शुद्ध संस्कृत श्लोक राजा की स्तुति में लिखे। उसी प्रकार गौड़ और कर्नाटक के विद्वानों को भी राजाश्रय प्राप्त था।[४३] इतना ही नहीं राजा हयम्वुरूक् तीनों लोकों में पूज्य था।[४४]

आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में राजा की यह सर्वोच्चता व्यक्तिगत कारणों से नहीं परंतु पद के कारण थी। अतः राजपद का महत्व विशेष था। भारतीय धर्मशास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि राजा के पद पर आसीन व्यक्ति चाहे बालक ही क्यों न हो वह मनुष्यों में आदरणीय है, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में देवता है।[४५]

राजा के कार्य--भजपहित् जैसे विशाल साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिये राजा को प्रतिदिन असंख्य कार्यों मे व्यस्त रहना पड़ता था। राजा हयम्वुरूक् के सुकार्यों और प्रयत्नों के कारण ही जावा में स्वर्ण युग की स्थापना हुई और उसकी गणना 'जम्बुद्वीप' (भारत) जैसे 'उत्तम सुदेशों' में की जाती थी।[४६]

प्रजा का पुत्रवत् पालन, दुष्टों को दंड देना और सज्जनों की रक्षा करना द्वीपांतर और भारत दोनों ही देशों के नीति ग्रंथों में राजा का प्रमुख कर्तव्य

४२. नवनाट्य, पिरघायस, खंड ३, पृ० १२३।

४३. सवेनः सं० पंडित अन्य धरणि मडिकत काञ्चवन् श्री नरेन्द्र श्री बुद्धादित्य सं० मिक्षगव हु सिर भोगाव्वली श्लोक कीर्च्या। रिं जम्बुद्वीप तोङ्का निरमकरनि कांचिपुरी पङ्विहार। म्वं सं विप्राङ रन् श्री मूतलि सहृदयावत् स्तुति श्लोक शुद्ध। ना० कृ०, ९३।१।

४४. महन् हेतुनिकोत्तमन् नृपति कमकाखिलं पिलुकिं अगात्मया।

ना० कृ०, ९२।३।१।

४५. बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्टति।—मानव धर्मशास्त्र।

४६. मङ्किन् रुदेकन यवधरणि कपवित्रन्य रिं रात् प्रकाश।
हिङ जम्बुद्वीप सावन् पथ वर्त हनुचप् कोत्तमन्यन् सुदेश॥ ना० कृ, ८३।२

माना है।[४७] भारतीय धर्मशास्त्रों में इसे राजा द्वारा संपन्न होनेवाले पाँच यज्ञों में से एक माना है।[४८] कवि ग्रंथ श्लोकांतर का लेखक भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता हुआ कहता है कि शूद्रों का बल हिंसा, गुणवान् व्यक्ति का बल क्षमा, राजा का बल दंडविधान तथा स्त्री का बल पतिसेवा है।[४९] वास्तव में राजपद की उत्पत्ति में भी यही कर्तव्य निहित है। राजा की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं से मानी जाती है।[५०] भुजाओं से राजा की उत्पत्ति इस बात की सूचक है कि उसका मुख्य कार्य समाज के बुरे तत्वों से जनता की रक्षा करना है।[५०क]

नागर कृतागम में प्रपंच कहता है कि राजा हयम्वरूक् की राज्यव्यवस्था का आधार ही न्याय था। इसी कारण जावा की पवित्रता की चर्चा दूर देशों तक फैली हुई थी। 'ध्यक्ष' (जज) 'सप्तोपति' (न्यायकार्य में सहायता करनेवाले सात उपपत्ति जिनमें चार शैव और तीन बौद्ध होते थे।) आदि न्याय विभाग के असंख्य अधिकारी न्याय व्यवस्था के कार्य में लगे रहते थे।[५१]

४७. कामंदकीय नीतिसार १४.।५१, १।११; पंचतंत्र १।२४०।

४८. अग्निसंहिता; २८वाँ श्लोक; हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ५७।

४९. हिंसा बलमनार्याणाम् क्षमा गुणवतां बलम्।
राज्ञः दंडविधिबलम्। शुश्रूषा हि बलं स्त्रीणाम्॥ श्लोकांतर, श्लो० ५०।

५०. देखिये ऋग्वेद १०।६०।१२, अथर्ववेद १६।६।६, वाजसनेयी संहिता ३१–११ तथा कविग्रंथ श्लोकांतर का श्लोक ७८वाँ। जावा के एक अन्य कवि ग्रंथ 'तत्वनि व्यवहार' में भी इसी प्रकार का श्लोक है। एच० बी० सरकार, इंडियन इन्फ्लुएंस आन दि लिटरेचर आफ जावा एंड बालि, पृ० ३८।

५०क.प्रजा परिपाल हि राज्ञो यज्ञ सोमदेव पृ० १०६। सार समुच्चय में ६४वें श्लोक की कवि टीका में लेखक कहता है कि वेदों का अध्ययन, यज्ञ, प्रतिदिन अग्निहोत्र करना तथा प्रजासेवक भृत्यों एवं संबंधियों की रक्षा एवं पालन करना क्षत्रिय वर्ग का प्रमुख कर्तव्य है। इन कर्तव्यों का पालन कर वह स्वर्ग प्राप्त करता है।

५१. ना० कृ०, ८१।२।३। जावा की राजनीति के संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ इस काल में न्याय, व्यवस्था-विभाग पूर्णतः धार्मिक धर्माध्यक्षों के हाथ में था।

राजा की सात देवताओं से तुलना उसके विभिन्न संवैधानिक और लोकहितकारी कार्य की ओर संकेत करती है। सूर्य के रूप में अंधकाररूपी शत्रुओं का नाश करनेवाला, शतमन्यु (वर्षा) के रूप में राष्ट्र को धन धान्य से संपन्न कर अकाल आदि से मुक्ति दिलानेवाला, पितृपति के रूप में दुष्टों को दंड देने और सज्जनों की रक्षा करने वाला तथा वरुण के समान देश की समृद्धि का कारण है। वायु के रूप में सभी स्थान में गुप्तचरों के माध्यम से प्रकट होकर न्याय और सुव्यवस्था स्थापित करता है एवं पृथ्वी के रूप में सर्वप्राणियों का अन्नदाता है।[५२]

जनकल्याणकारी कार्यों में भी राजा पर्याप्त ध्यान देता था। ना० कृ० का लेखक प्रपंच कहता है कि राजा हयम्‌वुरुक्‌ के यश का कारण 'कीर्ति' (निर्माण कार्य) और 'दानपुण्य' है। राजा की 'कीर्ति' (निर्माण कार्यों) के कारण ही जनता अपने को सुरक्षित समझती थी।[५३] राजा दान और निर्माण कार्यों द्वारा ब्राह्मण वर्ग को तुष्ट रखता था। ब्राह्मणों और पुरोहितों को राज्य की ओर से भूमि प्राप्त थी। चंडियों (मंदिरों) 'कुटि' और विहारों आदि की व्यवस्था राजकोष से होती थी। दान में दी भूमियों से कर नहीं लिया जाता था। शासक समय-समय पर राजादेश प्रसारित कर दान में दी भूमियों की व्यवस्था का उचित प्रबंध करता था। 'राजपतिगुंडल' नामक राजादेश (रायल चार्टर) में दिए 'धर्म' (धार्मिक भूमियों) की व्यवस्था संबंधी नियम दिए हैं।[५४]

'चतुर्जन' (चतुर्वर्ण) और 'वर्णाश्रम' की व्यवस्था करना भी राजा के सामाजिक कार्यों में से एक था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों को अपने अपने 'शासन' (कर्तव्यों, नियमों) पर बनाए रखना द्वीपांतर के नीतिग्रंथों में आवश्यक बतलाया है। जब ये अपने नियमों का पालन नहीं करते तो समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाती है एवं धर्म का नाश होता है। अतः 'सर्वधर्म' और 'राजपतिगुंडल' जैसे राजादेशों को समय-समय पर प्रसारित कर राजा इन वर्णों को अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करता था। 'राजपतिगुंडल' में राजा आदेश देता है कि ब्राह्मण (शैव या बौद्ध) का पुत्र ब्राह्मण, राजा का पुत्र राजा, साधारण मनुः (मनुष्य) का पुत्र मनुः तथा शूद्र का पुत्र शूद्र होगा प्रत्येक को अपने कर्तव्यों का

५२. ना० कृ०, ७१।१-२।
५३. ना० कृ०, ८०।३।
५४. पिगआड जावा इन दि फोर्टींथ सेंचुरी, खंड ३, पृ० १२७ से १३७ तक।

पालन करना चाहिए।[५५] इस प्रकार इन राज्यादेशों द्वारा 'चतुर्द्विज'[५६], चतुर्वर्ण (चारवर्णों) और चतुराश्रम अपनी 'क्रिया' और व्रतों में लगे रहते थे। प्रत्येक को अपने लिये वर्णित 'शासन'[५७] का पालन करना भी आवश्यक था। नागर-कृतागम में एक स्थान पर कहा है कि 'चतुर्जनों' को अपने पद के अनुसार शासनों का पालन करना चाहिए। राजा एवं मंत्रियों को भूपालन के कार्य में निपुण होना चाहिए, वैश्य को क्रय-विक्रय के कार्य में विनम्रता और शील के साथ यत्न करना चाहिए और शूद्र को सेवा के कार्य में लीन रहना चाहिए।[५८] आगे 'कुजन्म' (शूद्र) के विभिन्न प्रकार बतलाते हुए कहा है कि 'चांडाल', 'म्लेच्छ' और 'तुच्छ' ये तीन 'कुजन्म' हैं इन्हें अपने पद के अनुसार अपनी सीमा के भीतर कर्म करने चाहिए।[५९]

संसार से विरक्त हो जंगल और पर्वतों में निवास करनेवाले 'महर्षियों' और 'तप तपी' (तपस्वियों एवं उनकी पत्नियों) के लिये भोजन, वस्त्र एवं सुरक्षा की उचित व्यवस्था करना भी जावा के धर्मपरायण शासक अपने कार्यों का मुख्य अंग मानते थे। राजयात्राओं के समय शासक ऋषियों के आश्रमों में राज्य द्वारा की गई व्यवस्था का निरीक्षण करता था और 'उपभोग' (वस्त्र), अर्थ (धन) आदि भेंट देकर उन्हें तुष्ट करता था।[६०]

राज की ओर से धर्म (रिलीजियस डोमेंस), 'सीमा' (इस्टेट्स), 'वंश' (फैमिली लैंड) और 'हिल हिल हुलुनन' (मृत पूर्वजों की आत्माओं की भूमि) आदि भूमियों की सीमा निर्धारण और व्यवस्था वैधानिक राजादेशों को प्रसारित करके की जाती थी। इनके स्वामियों की प्रत्येक पीढ़ी को वैधानिक स्वीकृति पत्र और प्रमाण पत्र भी राजा की ओर से भेजे जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक और

५५. पिरजायड, राजपति गुंडल, प्रथम खंड, पृ० ८०; तृतीय खंड, पृ० १२० ।
५६. 'चतुर्द्विज' = विप्र, ऋषि, शैव, और बौद्ध ब्राह्मण ।
५७. जावा के साहित्य और अभिलेखों में ५ प्रकार के शासनों का उल्लेख हुआ है। इनमें विभिन्न धर्मानुयायियों और वर्णों के नियम वर्णित हैं। ये ५ शासन हैं—शैवशासन, ऋषिशासन, भक्तिशासन, देवशासन और राजशासन ।
५८. ना० कृ०, ८१।१ ।
५९. वही, ८१।४।३-४ ।
६०. वही, ६३।१-२ ।

ग्रामीण बस्तियों की व्यवस्था के लिये 'पतिक गुंडल' (नियमावली) भेजकर व्यवस्था की जाती थी।[६१] 'पतिक गुंडल' में राजा हयमूरुक् राजकीय और स्थानीय कर्मचारियों को आदेश देता है कि गुरुओं, ब्राह्मणों एवं पुरोहितों को किसी प्रकार का कष्ट न दें, उनका अनादर न करें तथा उनसे कर आदि लेकर उनको दुःख न न पहुँचाएँ। कुछ राजादेशों में राजा द्वारा स्वतंत्र भूमियों के सीमानिर्धारण कर आदि संबंधी नियमों का उल्लेख है तथा कुछ अन्य राजादेशों में दान में दी भूमियों की पुनरावृत्ति की गई है।[६२] इस प्रकार 'यव भूमि' और मजपहित साम्राज्य के दूरस्थ द्वीपों तक की जनता राजा द्वारा प्रसारित किए राजादेशों और 'शासनों' का पालन करती थी।[६३] देश ग्राम बदलना प्रतिवर्ष विभिन्न अवसरों पर राजयात्राओं द्वारा देश की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का निरीक्षण करना भी राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य था। इस अवसर पर मार्ग में प्रत्येक बस्तियों के प्रतिनिधि और वृद्धजन राजा से प्रत्यक्ष मिलते थे और अपनी कठिनाइयाँ सुनाते थे एवं उपज का निश्चित भाग वस्त्र, भोजन एवं अन्य वस्तुएँ भेंट करते थे। इन यात्राओं से एक लाभ यह भी होता था कि देश में विद्रोह आदि की संभावना कम रहती थी। राजकोष के लिये भी राजयात्राएँ लाभकारी थीं। मनोरंजन, शिकार तथा धार्मिक स्थलों की पूजा इन राजयात्राओं के अन्य उद्देश्य थे। इनमें राजा को प्रजा के अधिक निकट जाने का अवसर मिलता था। मजपहित् शासकों की ये राजयात्राएँ मौर्यकाल की धर्मयात्राओं और गुप्तकालीन राजयात्राओं का स्मरण दिलाती हैं।

राज्य की ओर से शिक्षा के प्रचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। अनेक कवियों और विद्वानों को दरबार मे संरक्षण देकर प्रोत्साहित किया जाता था। इस काल की कविभाषा का विस्तृत साहित्य इस काल की उच्च शिक्षा का द्योतक है। अर्जुन विवाह, सुतसोम, कुटार मानव, नागरकृतागम, एवं रामायण और महाभारत पर अनेक ग्रंथ १४वीं शताब्दी में लिखे गए। विहारों एवं विद्यालयों आदि का निर्माण और संचालन का कार्य संभवतः राजकोष से होता था।

६१. ८८।३ और ८३।१ तथा ७९।२-३ सर्गों में दूतों द्वारा 'पतिकगुंडल' (नियमावली) भेजकर ग्रामीण बस्तियों 'मंडलों' (धार्मिक बस्तियों) तथा धर्मग्रामों आदि की व्यवस्था स्थापित करने का उल्लेख है।

६२. वही ८०।३।

६३. हे तुम्यं यव भूमि अतुतुरिं दश: अनूत शासन श्री नरेंद्र। ना० कृ०, ७३।२।४।

राजा पर नियंत्रण

राजा के लिये प्रजा और मंत्रियों के इच्छानुसार कार्य करना आवश्यक था। जावा का इतिहास प्रमाणित करता है कि जब जब शासक ने निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने का प्रयत्न किया तब तब राज्य में उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े हुए। 'पररतन' नामक ऐतिहासिक कविग्रंथ में कुतनगर को ऐसा ही स्वेच्छाचारी और अयोग्य शासक बताया है जिसने जनता की इच्छा के विरुद्ध चलने का प्रयत्न किया। अतः उसे राजपद से ही नहीं प्राणों से भी हाथ धोने पड़े।

जावा के नीतिग्रंथों में अयोग्य शासक को त्याग देने का अधिकार जनता और मंत्रियों का दिया है।[६४] द्वीपांतर के विस्तृत नीति साहित्य राजा के कर्तव्यों संबंधी वर्णनों से स्पष्ट है कि ये धर्मग्रंथ ही राजा के लिये एक प्रकार से नियंत्रण थे। राजा को इनके बताए मार्ग पर चलना आवश्यक था। यहाँ के धर्मपरायण शासक प्रजा के विरुद्ध कार्य करके धर्मविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहते थे। अपने सुखों को त्यागकर भी वे प्रजा को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने को सदा तत्पर रहते थे। पाप और नरक की कष्टकारी यातनाओं का भय उन्हें सदा सत्मार्ग पर चलने को प्रेरित करता था। नीतिग्रंथों में कहा है कि पूर्व जन्म के सुकर्मों के फलस्वरूप ही राजा राजवैभव का उपभोग कर प्रजा पर शासन करता है। पूर्व जन्म के सत्कर्मों का प्रभाव समाप्त होने पर उसे राजवैभव से हाथ धोना पड़ेगा। अतः राजा को चाहिए कि वह इस जन्म में भी सत्कर्म करे तभी वह स्थायी रूप से प्रजा पर शासन कर सकता है।[६५]

सत्ता का विकेंद्रीकरण राजा की स्वेच्छाचारिता को सीमित करने को पर्याप्त था। साम्राज्य प्रांतों, जिलों, ग्रामों, मंडलों (धार्मिक बस्तियों) आदि में बटा होता था। प्रत्येक इकाई के शासक आंतरिक विषयों में राजा के प्रभाव और हस्तक्षेप से मुक्त थे। विशाल मंत्रिमंडल भी राजा की शक्ति को नियंत्रित करने में सहायक था। ना० कु० से स्पष्ट है कि शासक हयम्‌वुरुक् प्रधानमंत्री गजमग का बहुत आदर करता था और प्रत्येक विषय पर मंत्रिमंडल और राजदरबार के सात सदस्यों की उच्च समिति की सलाह लेकर ही कोई कार्य करता था।

६४. सारसमुच्चय, श्लो० ४२।
६५. श्लोकांतर, श्लो० ७१ की कविटीका।

जनता और राजा के संबंध

राजा और प्रजा के बीच पिता पुत्र के समान स्नेहपूर्ण संबंध था। जनता सदा अपने 'प्रभु' और लोकनायक पर सर्वस्व न्योछावर कर देने को तत्पर रहती थी तथा राजा भी प्रजा के सुखों के लिये अपने समस्त सुखों को त्याग करने को तत्पर रहता था। राजयात्राओं और सार्वजनिक उत्सवों के आयोजनों का प्रमुख उद्देश्य प्रजा से निकट संपर्क स्थापित करना ही प्रतीत होता है। राजयात्रा के समय प्रत्येक गाँव और बस्ती की जनता मार्ग के दोनों ओर घंटों धूप में बैठकर अपने 'प्रभु' की प्रतीक्षा करती थी और राजा के दर्शन कर अपने को धन्य समझती थी।[५६] प्रत्येक बस्ती के प्रतिनिधि और ग्रामसभा के वृद्धजन अपनी बस्ती की ओर से राजा का संमान करते थे और स्नेह स्वरूप विविध प्रकार के उपहार भेंट करते थे। इतना ही नहीं संसार के मोह माया से विरक्त तपस्वी और उनके परिवार के व्यक्ति भी राजा के आश्रम से लौटने पर सामान्य व्यक्तियों के समान अश्रु बहाते थे।[५७]

*

५६. शा० कु०, १८।७।१ चतुर्थ, खंड, पृ० ६१।
५७. वही १३ और १४।

वज्जिका भाषा और साहित्य

अजित शुकदेव

वज्जिका उत्तर बिहार के उस क्षेत्र की भाषा है जहाँ भगवान् महावीर और बुद्ध की जन्मभूमि एवं कर्मभूमि थी तथा प्रथम गणतंत्रात्मक वज्जिसंघ का राज्य था। अतः वज्जिका की प्राचीनता एवं गरिमा वैशाली गणतंत्र के साथ जुड़ी हुई है और शायद इसका पतन भी वैशाली के पतन के साथ ही साथ हो गया। तब से यह भाषा लोककंठ में ही जीवित रही है, लिखित साहित्य के रूप में नहीं। ऐसा भी संभव है कि इसका लिखित साहित्य विनष्ट हो गया हो, जैसा कि प्राकृत-अपभ्रंश के बहुतेरे ग्रंथों के साथ हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्य के अनुशीलन से कितने ही ऐसे शब्द मिलते हैं जिनके रूप ज्यों के त्यों आज भी अक्षुण्ण हैं और परवर्ती भाषाओं में उस रूप में वे नहीं मिलते। इसलिये वज्जिका के स्वरूप का दर्शन बौद्ध-जैन-साहित्य से लेकर संत साहित्य तक देखा जा सकता है।

इस भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व की ओर संकेत करनेवाले राहुल सांकृत्यान थे, जिन्होंने अपने लेख 'मातृभाषाओं की समस्या'[1] में भोजपुरी, मैथिली, मगही और अंगिका के साथ साथ वजिका को भी हिंदी के अंतर्गत जनपदीय भाषा के रूप में स्वीकार किया। इसके बाद रामपदार्थ शर्मा के चिंतन मनन के फलस्वरूप इस भाषा के नामकरण, स्वरूप, क्षेत्र आदि पर मौलिकतापूर्ण विचार किया गया।[2] लेकिन इनके पहले इस भाषा के संबंध में विद्वानों के बीच द्विधापूर्ण स्थिति रही। ग्रियर्सन ने कभी तो इसे 'पश्चिमी मैथिली'[3] कहा तो कभी 'मैथिली-भोजपुरी'[4]। ठीक इसी प्रकार की धारणा डा० सुभद्र झा[5] एवं डा० जयकांत मिश्र[6] की भी रही। ग्रियर्सन

१. एल० एस० आई० खं० ६ भा० २, पृ० १८।
२. वही, पृ० १६।
३. तुरकी वैशालीदर्पण, १९५४।
४. वही, १९५४।
५. पुरातत्व निबंधावली पृ० १२, २४७।
६. ए हिस्ट्री आव् मैथिली लिट०, पृ० ५५, ६०, भा० १।

के अनुसार यदि यह 'मैथिली भोजपुरी है' तो दोनों भाषाओं का संमिश्रण भौगोलिक सीमा पर, कुछ निश्चित क्षेत्र में, होना चाहिए—विस्तृत भूभाग में नहीं। लेकिन इस भाषा का क्षेत्र डा० सियाराम तिवारी के अनुसार ५२०५.६ वर्गमील है और इसके बोलनेवालों की जनसंख्या ७० लाख ११ हजार ४६७ है।[७] दूसरी बात यह है कि ग्रियर्सन ने स्थूल दृष्टि से वज्जिका के क्रियापदों में 'छ' देखकर इसे मैथिली समझ लिया। लेकिन वज्जिका और मैथिली के इस क्रियापद में अंतर है। जैसे—आवि रहल अछि (मैथिली), अबइछी (वज्जिका) और जहाँ इस क्रिया पद का प्रयोग मैथिली में भूत और वर्तमान काल में होता है वहाँ वज्जिका में केवल वर्तमान काल में ही। पुनः क्रियापदों का छ-युक्त रूप से भिन्न रूप देखकर उन्होंने भोजपुरी मान लिया। लेकिन उन्हें कहाँ पता था कि भोजपुरी भाषा में बहुवचन बोधक चिह्न या प्रत्यय नि, न, न्ह होते हैं परंतु वज्जिका में नि के स्थान पर 'नी' का प्रयोग होता है तथा अन्य दोनों चिह्न एकदम नहीं पाए जाते। फिर वे आगे लिखते हैं—'मैंने सेवेन ग्रामर्स आफ दि बिहारी लैंग्वेजेज़, भाग दो में इसे भोजपुरी का एक भेद बताया था, किंतु वर्तमान सर्वेक्षण से इसे मैथिली की विभाषा इसलिये बता रहा हूँ कि जिस क्षेत्र में वह बोली जाती है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन मिथिला राज्य के अंतर्गत है।' लेकिन ध्यातव्य है कि सोलह जनपदों में वहाँ वज्जि महाजनपद का नाम लिया गया है और संपूर्ण मुजफ्फरपुर जिले जिसके अंतर्गत था,[८] वहाँ मिथिला का नाम नहीं आया है। अतः ग्रियर्सन का यह आधार कोई तुक नहीं रखता। बात यह है कि भोजपुरी और मैथिली के अतिरिक्त भी कोई भाषा हो सकती है, इतनी दूर तक ग्रियर्सन का ध्यान गया ही नहीं। जिन भाषाओं और बोलियों का नाम पहले से ज्ञात था उन्हीं भाषाओं के क्षेत्र को निर्धारित और उनको उदाहृत मात्र करने का काम उन्होंने किया। ऐसी स्थिति में उनके लिये संभव नहीं कि वे पूर्वोक्त कारणों से परस्पर संकुचित वज्जिका, मैथिली, अंगिका और भोजपुरी इन भाषाओं के बीच विभाजक रेखा खींच सकते।

पुनः डा० जयकांत मिश्र और डा० उदयनारायण तिवारी ने क्रमशः मैथिली और भोजपुरी में चार चार रूपों को स्वीकार किया है—अतिह्रस्व, ह्रस्व, अतिदीर्घ, दीर्घ जैसे घोर, घोरा, घोरवा और घोरउआ। लेकिन वज्जिका में अतिह्रस्व और अतिदीर्घ दोनों ही रूप नहीं पाए जाते हैं। इस प्रकार इस भाषा की प्रकृति परवर्ती भाषाओं के साथ कुछ मेल खाते हुए भी एकदम भिन्न है। इस भाषा के स्वतंत्र

७. डा० सियाराम तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में पठित निबंध।
८. एल० एस० आई०, खं० ५; भा० दो, पृ० १०७।

अस्तित्व और सत्ता को स्वीकार करते हुए जगदीशचंद्र माथुर[9] और गणेश चौबे[10] ने तो यहाँ तक कहा है कि थारू भाषा भी वज्जिका ही है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करनेवाला डा० सियाराम तिवारी का लेख बहुत ही खोजपूर्ण और वज्जिका भाषा के विभिन्न अंगों पर काफी प्रकाश डालता है। उनके अनुसार वज्जिका क्षेत्र के उत्तर में नेपाल, दक्षिण में गंगा नदी, पश्चिम में सारण और चंपारण के भाग और पूर्व में दरभंगा जिला है। उन्होंने व्याकरण की दृष्टि से भी इस भाषा के विभिन्न क्रियारूपों, वचन, लिंग, काल आदि पर तर्कसंमत विचार व्यक्त किया है। इस संदर्भ में, डा० योगेंद्र मिश्र[11], डा० अजितनारायण सिंह तोमर[12] और राधावल्लभ शर्मा[13] भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, जो इस भाषा के संबंध में सतत खोजपूर्ण कार्य करते रहे हैं। अभी अभी, इस भाषा की विभिन्न शाखाओं पर शोधपूर्ण कार्य करनेवालों में डा० कामेश्वर शर्मा, रामइकबाल सिंह 'राकेश', प्रो० जयकांत शर्मा, योगेंद्र नारायण शर्मा, रामपदार्थ शर्मा, प्रो० उमाकांत वर्मा, राम रीझन रसूलपुरी, श्रीरंग शाही, प्रो० विनोदिनी शर्मा, डा० अवधेश अरुण आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

साहित्य

सम्यक् शोध एवं खोज के अभाव में अभी इस भाषा में लिखित साहित्य प्राप्य नहीं है। फिर भी गयाधर[14], हलधरदास[15] मँगनीराम[16] आदि की कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जहाँ से वज्जिका भाषा का साहित्य प्रारंभ होता है। गयाधर का रचनाकाल १०४५ ई० माना जाता है। ये वैशाली के रहनेवाले थे और बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत गए थे। इनकी कोई ठोस रचना अभी तक नहीं मिली है। हलधरदास का समय १५६५ ई० ठहरता है, जिनका लिखा हुआ एक खंड काव्य 'सुदामाचरित्र'[17] प्राप्त है, जो संपूर्ण वज्जिका में लिखा गया है। कहा जाता है, इन्होंने बहुतेरी रचनाएँ वज्जिका में की थीं लेकिन सुदामाचरित्र

९. तुरकी वैशाली दर्पण, मार्च, १९६४, पृ० ६१।
१०. वही।
११. वही, १९६३।
१२. लोक संस्कृति के तृतीय अधिवेशन उज्जैन में पठित तोमर जी का निबंध।
१३. वही।
१४. वज्जिका, प्रवेशांक १९६०।
१५. वही।
१६. वही, १९६७।
१७. वही।

के अतिरिक्त इनकी और कोई रचना अभी तक नहीं मिली है। मँगनीराम का जीवन काल उमाशंकर जी[18] के अनुसार १८१५ ई० के आस पास माना जाता है। जिनकी तीन पुस्तकें—मँगनी राम की साखी,[19] रामसागर पोथी[20] और अनमोल रतन[21] मिली हैं। इनके अलावा इनके भजन और साखियाँ जनता में भी प्रचलित हैं, जिनका संकलन संपादन अभी नहीं हो पाया है।

वज्जिका भाषा के साहित्य का दूसरा अध्याय २०वीं शताब्दी से शुरू होता है। इस काल में बहुत सी रचनाएँ साहित्य के विभिन्न अंगों पर लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं।

रामसंजीवन सिंह द्वारा लिखित बुद्ध वैशालिक,[22] वज्जिका भाषा का समुन्नत एवं सफल काव्य है, जो वज्जिका भाषा की काव्यात्मकता की सफलता का द्योतक है। डा० अजित नारायण सिंह तोमर का कहानी संग्रह—'परछुत के परमाणु की'[23] वज्जिका भाषा साहित्य की कहानी विधा को गौरवान्वित करता है। इनके अलावा नगेंद्रनाथ,[24] उमाकान्त वर्मा,[25] सत्यनारायण अष्ठाना,[26] सुरेशचद्र 'सुमन', कुमुदिनी[27] शर्मा,भूपेंद्र अबोध,[28] दीनेंदु भारती[29],शिवदेव शर्मा 'पथिक',[30] अजित शुकदेव,[31], वीरेंद्र बेनीपुरी[32] आदि वज्जिका भाषा साहित्य के समर्थ साहित्यकार है।

❀

१८. वही।
१९. वही।
२०. वही।
२१. वही।
२२. वही, प्रवेशांक, द्वितीय, तृतीय पुष्प।
२३. प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६२ ई०
२४. वज्जिका, १९६३ ई०
२५. वही, १९६३ ई०
२६. वही, १९६३ ६४
२७. उत्तर विहार, पटना १९६६-६७।
२८. वज्जिका, १९६३, १९६४ ई०
२९. वही।
३०. उत्तर विहार, तुरकी वैशाली दर्पण, १९६४, १९६५,६६।
३१. वज्जिका, १९६५,६६
३२. उत्तर विहार, तुरकी वैशाली दर्पण १९६४, १९६५, ६६, ६७।
३३. वज्जिका, १९६५, १८६६।

पौराणिकी

लोक वेद व्यापार को, त्याग कहात निरोध।
आपुहि कर्म पलात सब, होत अबै वर बोध ॥४३५॥

श्रीहरि माँहि अनन्यता, अहै भक्ति फल जान।
तासु विरोधी कर्म मैं, उदासीनता आन ॥४३६॥

सब आश्रय को त्यागही, है अनन्यता मीत।
होइ एक भगवान को, भक्त सु होत पुनीत ॥४३७॥

उनहीं के अनुकूल धरि, लोक वेद आचार।
तिन विरोधि कर्मन विषैं, उदासीनता धार ॥४३८॥

जबलौं निश्चय दृढ़ नहीं, होत, तबहिं लौं जीव।
शास्त्र विहित सत कर्म कौं, करै सहेत अतीव ॥४३९॥

दृढ़ निश्चय बिन जो तजै, शास्त्र विहित सत्कर्म।
पतित होत जग जीव वह, बिन जाने यह मर्म ॥४४०॥

लोक वेद व्यापार सब, दृढ़ निश्चय लगि मान।
किंतु भोजनादिक सकल, जीवन लौं जिय जान ॥४४१॥

नाना मत तें भक्ति के, कहे विभेद अनेक।
पूजादिक अनुराग जहँ, भेद कहावत एक ॥४४२॥

होय कथादिक में जहाँ, अमल अचल अनुराग।
भेद दूसरो जानिये, जग जाहिर जिय जाग ॥४४३॥

होय आत्म रति के जहाँ, जो अविरुद्ध अथाह।
सो भी जो है भक्ति को, भाव पियूष प्रवाह ॥४४४॥

चौथी श्री भगवान में, सकल समर्पण मीत।
भक्ति अलौकिक जनिये, पावन करत पुनीत ॥४४५॥

जहँ लीला संयोग मैं, होत अनंद अपार।
प्रति छिन हूँ की विस्मृती, देत दुसह दुख भार ॥४४६॥

साँची सोई बखानिए, भक्ति अपूरब मित्र।
जैसे श्री ब्रज गोपिका, चरित विचित्र चरित्र ॥४४७॥

जदपि नाहिं माहात्म्य को, ज्ञान कोपिका होय।
तदपि परावधि प्रेम की, तिन में ही (रही) कमनीय ॥४४८॥

क्षणिक ज्ञान माहात्म्य कौ, होत कबहुँ तिन भात।
पैं ताकों उन भूलि कै, कियो प्रेम को नात ॥४४६॥

अहो अखिल ब्रह्मांड मैं, ध्वजा प्रेम की धन्य।
श्री हरि हित अनुराग मैं, गोपी भई अनन्य ॥४५०॥

नहिं उनकों सो प्रेम कोउ, कियो न करिहै कोय।
श्री माधव अनुरक्ति को, बीज गई ते बोय ॥४५१॥

है महात्म्य के ज्ञान बिन, प्रेम जार सब जान।
पै यह दोष न गोपिका, माँहि दिखात सुजान ॥४५२॥

भई निछावर प्रेम करि, हरि रस परम अनन्य।
गोपिन सौं या विश्व मैं, दीखत नाहिं सुजान ॥४५३॥

जो निज प्रिय के सुख सुखी, स्वीया ताही बखान।
यह लक्षण गोपीन मैं, दीखत नाही सुजान ॥४५४॥

जो निज सुख ही मैं सुखी, कछु प्रिय सुखहु चाह।
परकीया सो जानिये, इनको कठिन निबाह ॥४५५॥

... ... ।
... ... ॥४५६॥

... ... ।
... ... ॥४५७॥

... ... ।
... ... ॥४५८॥

... ... ।
... ... ॥४५६॥[1]

छिन वियोग मैं कल्पशत, कोटि दुसह दुख मान।
अहो अनोखी प्रेमिनी, इन सम को जग आन ॥४६०॥

१. ४४५ दोहे के बाद का १४३वाँ पत्र मूल हस्त लेख में नहीं है अतः क्रमशः ५६, ५७, ५८ तथा ५६ संख्यक दोहे अप्राप्य हैं।—संपादक

त्यों प्रिय छिन संयोग में, पाइ परम आनंद।
कोटि कल्प लत स्वर्ग सुख, मानत है अतिमंद ॥४६१॥

इन समान जग को अहै, प्रेममयी कछु मीत।
इनकी गाथा जगत कों, पावन करति पुनीत ॥४६२॥

श्रीमुख तें श्रीहरि कह्यौ, दाँतन तृन धरि धीर।
रिनी तुम्हारे हम सखी, हाजिर सहित शरीर ॥४६३॥

तुम समान संसार में, मेरो प्रिय नहिं आन।
सदा तुम्हारे हम रिनी, रहिहैं सुनहु सुजान ॥४६४॥

ऐसी प्रेमिन को कहै, जो परकीया नार।
तिन पै जम द्वारे परै, मार मार पै मार ॥४६५॥

बंदौं श्री ब्रज गोपिका, चरण कमल मकरंद।
जेहि लहि परमानंद सुख, पायो परमानंद ॥४६६॥

इनकी समता जगत में, को करि सकत सुजान।
चरन कमल जिनके सदा, सेवत श्री भगवान ॥४६७॥

हरि माहात्म्य ज्ञान की, विस्मृति को अपवाद।
नाहिं गोपिका जन विषै, यही भक्ति कृत वाद ॥४६८॥

वस्तु शक्ति नहिं होत है, कबहुँ अन्यथा देख।
जो जामें गुण ताहि में, रहत समायो पेख ॥४६९॥

बिन जानेहुँ विष भखे, होत प्राण की हानि।
होत सुधा चखि अमरता, यही वस्तु गुण जानि ॥४७०॥

यदपि ब्रह्म को ज्ञान नहिं, रह्यो गोपिका हीय।
पै उन पाई परम गति, रति करि अति कमनीय ॥४७१॥

जाने अनजाने करै, जो रति हरि में जीव।
जो हरि गुण माहात्म्यवश, शुभगति लहत अतीव ॥४७२॥

बिन जाने माहात्म्य के, प्रेम जार को होय।
यही जगत व्यवहार है, जानत यह सब कोय ॥४७३॥

निज पति तजि पर पति भजै, सोई जारिणी नार।
पै गोपिन में यह कहाँ, है तुम करहु विचार ॥४७४॥

निज पति तजि पर पति नहीं, भजी गोपिका मीत।
नैन खोलि इनकी कथा, पढ़िये परम पुनीत ॥४७५॥

अंग संग भगवान तें भयो, न कहूँ व्यभिचार।
जोलि भागवत बाँचिये, कहाँ कलुष व्यापार ॥४७६॥

यह तो अति अनुराग की, परम विमल रति मीत।
जो यह कथा विचारिकै, पढ़ै सु होय पुनीत ॥४७७॥

कर्म ज्ञान अरु योग तें, भक्ति बड़ी यह जान।
या की निज मुख तें कही, महिमा श्री भगवान ॥४७८॥

कर्मादिक साधन अहैं, भक्ति अहै फल रूप।
ऐसो साधन सहज लहि, परहु न तुम भवकूप ॥४७९॥

सदा द्वेष अभिमान तें, करत सुमुख भगवान।
त्यों दीनन पैं नेह नित, अविचल अचल समान ॥४८०॥

केवल ज्ञानहिं भक्ति को, साधन मानत एक।
आश्रय ज्ञानरु भक्ति को, कहत परस्पर एक ॥४८१॥

'स्वयं भक्ति फलरूप' यह, कहत कुमार उदार।
जैसे भोजन आदि अरु, प्रगट राज दरबार ॥४८२॥

भोज्य वस्तु के ज्ञान तें, भूख मिटत नहिं मीत।
राज तुष्टि नहिं होति जिन, किये यथोचित प्रीत ॥४८३॥

यातें जो जन सिद्धि शुभ, चाहत परम पुनीत।
सो केवल हरि भक्ति मैं, पगैं, छोड़ि अनरीत ॥४८४॥

याके साधन विविध विधि, गाये बहु आचार्य।
भव सागर तें तरन मैं, वेई हैं अनिवार्य ॥४८५॥

विषय त्याग सतसंग अरु, भजन निरंतर मीत।
साधन श्रीहरि भक्ति के, जानहुँ परम पुनीत ॥४८६॥

श्री हरि के गुण श्रवण अरु, कीर्तन मैं अनुराग।
साधन साँची भक्ति को, जग जाहिर रस पाग ॥४८७॥

कृपा महत जन की तथा श्रीहरि की जब होय।
तब ऐसो संयोग जग, पावत है नर कोय ॥४८८॥

दुर्लभ है सतसंग जग, वहाँ न पहुँचै कोय।
जो भागनि पहुँचै मनुज, तौ मन चीतो होय ॥४८९॥

पाइ अलभ सतसंग कोउ, खाली फिरत न मीत।
भक्तिरूप यह फल परम, पावत सुजन पुनीत ॥४९०॥

साधु संग नहिं मिलत जग, बिन हरि भये दयाल।
जो बड़ भागनि तें मिलै, तौ नर होत निहाल ॥४६१॥

श्रीहरि अरु हरि भक्त में, भेद भाव जनि जानु।
साधु रूप तै हरि प्रगट, यह मन मैं अनुमानु ॥४६२॥

सतसंगति को खोजिये, भजिये हरि पद कंज।
करिये भक्ति सहेत नित, तरिये भव जल खंज ॥४६३॥

एक भक्ति ही साधिये, सब भाँतिन मन मीत।
श्री हरि में करिये सदा, अचल अनूपम प्रीत ॥४६४॥

सदा कुसंग तजौ भजौ, दुष्ट जनन तें तात।
इनके फंदन मैं परें, भवबंधन नहिं जात ॥४६५॥

दुष्ट संग तें होत हैं, काम क्रोध अरु लोभ।
यही नरक के द्वार हैं, तीन अमोघ अलोभ ॥४६६॥

इनतें उपजत मोह पुनि, होत बुद्धि को नाश।
सर्वनाश तब होत है, साँचो कोई प्रकाश ॥४६७॥

बिंदुमात्र हु होत ये, सागर सरिस महान।
इनमैं पतित उबारते, केवल श्री भगवान ॥४६८॥

होत रजोगुण ते प्रगट, काम क्रोध रिपु रूप।
इनके बस जोई परै परै सोई भवकूप ॥४९९॥

है भवसागर तरन को, तरी अपूरब भक्ति।
सबै कामना रहित जो, श्रीहरि मैं अनुरक्ति ॥५००॥

उबरत माया तें अहो, कहौ भाग्य भट कौन ?
माया मय संसार मैं, तजत कुसंगति जौन ॥५०१॥

महत जनन के चरण शुभ, सेवत सादर जौन।
माया के गुण जात हनि, उबरत सुकृती तौन ॥५०२॥

माया मय संसार की, ममता त्यागत जौन।
भव बंधन सब तोड़ि कै, तरत सुजन जन तौन ॥५०३॥

रहत रहत एकांत मैं, गुण वृत्तिन तजि तात।
लौकिक बंधन तोड़ि सब, सोई तरत विख्यात ॥५०४॥

असन बसन चिंता रहित, राग द्वेष तें दूर।
काम क्रोध रिपु हनि तरत, भक्ति विभव भरपूर ॥५०५॥

सकल कर्म फल तजत जो, सकल कर्म जो त्याग।
तरत होई निर्द्वंद्व नर, अनिकेतन बड़ भाग ॥५०६॥

सकल वेदहूँ तजि सतत, निरत परम अनुराग।
तरत मनुज तारत अनन, धृत संतोष विराग ॥५०७॥

अहो अनिर्वचनीय है, प्रेम स्वरूप पुनीत।
मूकास्वादनवत कही, जासु कहन की रीत ॥५०८॥

लहि सुपात्र कबहूँ कोऊ, सज्जन करत प्रकाश।
प्रेमरूप अति सूक्ष्म तर, अनुभव सिद्ध विकास ॥५०९॥

त्रिगुण रहित सब कामना, हीन अहीन महान।
वर्द्धमान प्रतिदिन सतत, अविच्छिन्न भगवान ॥५१०॥

जेहि लहि प्रेमी जन सदा, अवलोकत पगि ताहि।
सुनत ताहि चिंतत तेही, मन मन अतिहि सराहि ॥५११॥

गौणी भक्ति बखानिये, तीन भेद करि मीत।
कही सात्विकी राजसी, त्यों तामसी पुनीत ॥५१२॥

जिज्ञासू पुनि आर्त त्यों, अर्थार्थी यह तीन।
भजत कामना सहित ये, नित नव भाव नवीन ॥५१३॥

ज्ञानी कर्मी त्यों सतत, भजत विरागी वीन।
ये तीनोंहुँ भक्त नहिं, कबहुँ कहात प्रवीन ॥५१४॥

इनमें श्रेष्ठ वही अहै, जो सात्विक शुभ भाव।
जिज्ञासा अरु ज्ञान को, जहाँ प्रकाश प्रभाव ॥५१५॥

राजस तामस भक्त जब सात्विक होत सुजान।
लखै भक्त की पंक्ति मैं, गिनत ताहि भगवान ॥५१६॥

जे सब साधन मोक्ष के, कहे शास्त्र मैं तात।
उन सबही मैं सुलभ अति, भक्ति मार्ग दिखरात ॥५१७॥

या महँ नाहिं प्रमाण की, नेक अपेक्षा मीत।
आपुहि महाप्रमाण को, रूप अहै यह मीत ॥५१८॥

कारण, यामें शांति अरु, परमानन्द अतीव।
पाइ कृतारथ होत है, सबै भाँति यह जीव ॥५१९॥

सर्व धर्म तजि ईश की, शरण गहो सब भांत।
लोक बिगड़िबे की नहीं, चिंता करिये तात ॥५२०॥

प्रेमी जन को धर्म यह, सुनहु खोलि जुग कान।
सब तजि जो हरिभजत तेहि, अपनावत भगवान ॥५२१॥

आश्रम, लोक अरु वेद सब, श्रीहरि पद में तात।
करत समर्पण भक्त जन, यही परम कुशलात ॥५२२॥

सकल समर्पण हरिहिं करि, है निर्द्वन्द्व सुजान।
भक्त परम पुरुषार्थ लहि, पावत धाम महान ॥५२३॥

याही तें सब तजि हरी, निरत सुभाव अनन्य।
या जग में सब भाँति व्रज, गोपी कहियत धन्य ॥५२४॥

इनकी रुचिर कथा सरस, सुनि सहृदय सुचिभाव।
निरत होत श्रीहरि चरण, चरचित चित चुभि भाव ॥५२५॥

तौ लौं कबहुँ न छोड़िए, लौकिक वैदिक कर्म।
जौ लौं परम न पाइये भक्ति विहित सधर्म ॥५२६॥

किंतु कामना सहित नहिं, कबहुँ करिये कर्म।
जो कछु करिये, फल रहित, करिये सादर धर्म ॥५२७॥

कर्म करै फल रहित नर, हरिपद रत मतिमान।
तबहीं अपनी देत हैं, रीझि भक्ति भगवान ॥५२८॥

सकल कर्म फल रहित करि, साधै भक्ति सुजान।
यों करि पावत प्रेम पर, महामुदित मतिमान ॥५२९॥

स्त्री धन नास्तिक वैरि शठ, पापी चरित सुनैन।
करै द्वेष नहिं काहु सें, बोलै परुष न बैन ॥५३०॥

अहंकार अभिमान मद, दंभादिक कौं त्यागि।
रहै एक रस मुदित मन, लोभादिक मग भागि ॥५३१॥

अखिल कर्म भगवान के, अर्पण करि सब भाँति।
छूटि अखिल भव बंध तें, लहै भक्त जन पाँति ॥५३२॥

काम क्रोध अभिमान हठ, करै हरिहिं में मीत।
गोपीजन लौं प्रेम लहि, जग महँ होय अभीत ॥५३३॥

प्रेम, तथा प्रेमी अरू, प्रेम पात्र यह तीन।
भेद भूलि सब भाँति हरि, भक्त होय तल्लीन ॥५३४॥

सखा दास बनिता सरिस, करै प्रेम अनिवार।
तबै गोप गोपी सदृश, भक्त होय भवपार ॥५३५॥

एकांती है मुख्य जग, भक्त कही मुनिराज ।
गौण भक्त बहु भाँति के, जोरे फिरत समाज ॥५३६॥

अव्यभचारी भक्त हो, मुख्य कहावत तात ।
व्यभिचारी बहु जन्म मैं, पावत हरिहिं दिखात ॥५३७॥

करत परस्पर प्रेम की, बात भक्त जन मीत ।
निज कुल सह संसार कौं, अतिशय करत पुनीत ॥५३८॥

लक्षण उनके देखिये, प्रेम मगन वे भक्त ।
कंठ रोध रोमांच अरु, अश्रुकला कुल रक्त ॥५३९॥

करत तीर्थ को तीर्थ वे, सहज कर्म को कर्म ।
शास्त्र शास्त्र कौं रीति कौं, रीति धर्म को धर्म ॥५४०॥

कारण, उनको जानिये, श्रीहरि रूप सुजान ।
इनके ही वश होत हैं, करुणाकर भगवान ॥५४१॥

वे तन्मय हरि भक्त जन, जीवन मुक्त कहात ।
उनकी सतसंगति किये, यह भवबंधन जात ॥५४२॥

ऐसे हरिजन के सकल, पितर मगन ह्वै जात ।
नचत देवगन भगवती, धरणी पुलकित गात ॥५४३॥

कुल धन विद्या रूप गुण, क्रिया जाति को भेद ।
भक्तन मैं नहिं होत है, जातें उपजत खेद ॥५४४॥

हैं तदीय हरिभक्त जन, लगैं परस्पर तात ।
वयसादिक को भेदहूँ, इनमैं नाहिं लगात ॥५४५॥

सदा भक्ति रस पगि सुजन, तजिये वाद विवाद ।
मधुर वस्तु मैं लवण तें, उपजत अति कुस्वाद ॥५४६॥

सार नहीं कछु वाद मैं, राजस तामस होय ।
सात्विक धर्म नसात निज, सहज सरस रस खोय ॥५४७॥

भक्ति शास्त्र को मनन करि, करै सदा हरिकर्म ।
और विडंबन है सकल, यही सनातन धर्म ॥५४८॥

वही कर्म नित कीजिये, जातें उपजै भक्ति ।
प्रेम माधुरी पीजिये, करि हरिपद अनुरक्ति ॥५४९॥

सुख दुख इच्छा लाभ यश, आदि बिसारि सहेल ।
क्षणहु व्यर्थ न खोइये, भजिये रमानिकेत ॥५५०॥

जो लौं श्री हरि हरत नहिं, तौ लौं चित हित धारि।
भजन बिना नहिं खोइये, एकहु छन मनमारि ॥५५१॥

सत्य अहिंसा शौच शुभ, करुणा दया उदार।
आस्तिकता नहिं छोड़िये, ये गुण भव भय तार ॥५५२॥

अति उत्तम आचर तें, रीझत वेगि दयाल।
चरण शरण तल राखिके, निजजन करत निहाल ॥५५३॥

सर्व भाव तें सर्वदा, निश्चित चित हित धार।
भजन करहु भगवान को, होन चहहु जो पार ॥५५४॥

भजन करत हित सहित नित, जो हरि भक्त उदार।
तिनके हिय जिय नैन मैं, प्रगटत फल दातार ॥५५५॥

हिय मैं वा प्रत्यक्ष हैं, प्रगट तुरत भगवान।
निज भक्तन को देत हैं, परमानंद महान ॥५५६॥

अनुभव प्रेमानंद को, करि हरि लहि तव जीव।
मनुज जन्म साफल्य को, सुकृती लहत अतीव ॥५५७॥

कहत कछुक ह्याँ भक्ति के, गुप्त भेद रसखान।
जिनके साधन करत ही, वश्य होत भगवान ॥५५८॥

श्रीहरि गुण माहात्म्य मैं, जो आसक्ति अनूप।
एक भक्ति तेहि जानिये, अमल धवल नवरूप ॥५५९॥

दूजी रूपासक्ति है, भक्ति अलौकिक तात।
जो यामैं रमि जात तेहि, कछु नहिं और सुहात ॥५६०॥

पूजासक्ति बखानिये, तीजो भक्ति सुजान।
यामैं जो जन लगि रह्यो, मिलत ताहि भगवान ॥५६१॥

स्मरणासक्ति बखानिये, चौथी भक्ति सहेत।
जो हरि सुमिरत तेहि मिलत, तुरतहि रमानिकेत ॥५६२॥

भक्ति पाँचवीं जानिये, दासासक्ति अनूप।
निज सेवक कौं ना तजत, कबहुँ अग जग भूप ॥५६३॥

सख्यासक्ति बखानिये, छठीं भक्ति कमनीय।
या भावनि मैं जो रम्यो, सो जन अति रमनीय ॥५६४॥

भक्ति सातईं जानिये, वात्सल्यहि आसक्ति।
कहो कौन कवि कहि सके, या रस की आरक्ति ॥५६५॥
कांतासक्ति बखानिये, भक्ति आठईं मीत।
या रस में जो रमि रह्यो सो कन परम पुनीत ॥५६६॥
आत्मनिवेदन की कही, जो आसक्ति अनन्य।
नवीं भक्ति यहि जानिये, या रसधारी धन्य ॥५६७॥
है तन्मय आसक्ति यह, दसवीं भक्ति सुजान।
ऐसे भक्तहिं जानिये, मूर्तिमान भगवान ॥५६८॥
परम विरह आसक्ति है, एकादसवीं भक्ति।
उदाहरण त्यों जानिये, गोपिन की अनुरक्ति ॥५६९॥
अहै परम संयोग की, द्वादशवीं आसक्ति।
महाभाग पावत कोऊ, या रस की सुचि भक्ति ॥५७०॥
याही भाँति अनंत है, भक्ति भेद सुनु मीत।
काहू विधि को कीजिये, हरि में प्रेम पुनीत ॥५७१॥
करि त्रिसत्य भाखत रसिक, सुनहु सकल दै कान।
परे भक्ति के नाहिं कछु, यही कही भगवान ॥५७२॥
है गरीयसी भक्ति ही, या जग में सुनु तात।
याते परे हमैं नहीं, कोऊ कर्म त्रिकाल ॥५७३॥
जाने सिरजो ताहि के, पावन की यह रीति।
छोड़ि सबै जंजाल को, तासों करिये प्रीति ॥५७४॥
याही तें सब भाँति को, करिये साँचो हेत।
यही मूल संसार को, यही मुक्ति शुभ देत ॥५७५॥
निर्भय है जन जसपतें, सदा एक मत रीत।
कह्यो भक्ति सर्वस्व को, परम रहस्य पुनीत ॥५७६॥
शिव सनकादिक चार त्यों, व्यास गर्ग शुक विष्णु।
आरुणि त्यों शांडिल्य मुनि, बलि हनुमत भ्राजिष्णु ॥५७७॥
उद्धव शेष वशिष्ठ त्यों, राम विदेह महीश।
भरत विभीषण गरुड़ अरु, कौण्डिन्यादि ऋषीश ॥५७८॥
भक्तिमाल मणि के भये, नारद परम सुमेरु।
शिव शासन तें विश्व में, दियो भक्ति रस गेरु ॥५७९॥

करिहैं यामैं जो मनुज, अचल अमल विश्वास।
तिनको सहजहिं होइहै, भवतें तुरत निकास ॥५८०॥
यामैं करिहैं जो सुजन, श्रद्धा अटल सदैव।
तिनकौं कबहुँ सताइहैं, नाहिं नेकु दुर्दैव ॥५८१॥
यातें तुरतहिं होइकै, भक्तिमान नर धन्य।
दास पंक्ति में पाइहै, ठाम अनूप अनन्य ॥५८२॥
परम श्रेष्ठ भगवान को वह लहिहै छिनमाहिं।
यातें परमानंद है, परे जगत मैं नाहिं ॥५८३॥
भजौ सदा सब भावतें, हरिहि हमारे मीत।
यही सनातन धर्म है, जग में परम पुनीत ॥५८४॥
यातें परे न अन्य है, मारग कोऊ महान।
भक्ति भावतेंहिं सदा, रीझत हैं भगवान ॥५८५॥
सब तजि जे हरि भजत जन, साँचे मन नित मीत।
तिनके सब सत्कर्म हरि, पूरन करत पुनीत ॥५८६॥
भक्तन के निज कर्म को, आपु करत भगवान।
यातें है निश्चिंत मन, भजत हरिहिं मतिमान ॥५८७॥
प्रभुवर सब समर्थ हैं, यातें चिंता त्यागि।
सब तजि भजिये हरिहिं नित, प्रेम रंग अनुरागि ॥५८८॥
जे हरि हित सब धर्म कौं, तजत भक्त मतिमान।
ताके त्यागे कर्म सब, पूर्ण करत भगवान ॥५८६॥
जा हरि हित हम सब, तज्यो, सो नहिं तजिहै मोहि।
तजै हमारे कर्म सब, आपुहि करिहै वोहि ॥५६०॥
धारयो हिये यदि हरिहिं धरि, सब भाँतिन मम तात।
तब तातें का अधिक है, लौकिक वैदिक बात ॥५६१॥
लौकिक वैदिक कर्म सब, बिना भक्ति के व्यर्थ।
भक्ति भये पैं कर्म ये, होत आप असमर्थ ॥५६२॥
उभय भाँति तें कर्म ये, व्यर्थ लखात सुजान।
सो नर सब कछु करि चुको, जो धारयौ भगवान ॥५६३॥
हरि विमुखन के हेत हैं, लौकिक वैदिक कर्म।
हरिहि लखावन रीति यह, विहित सनातन धर्म ॥५६४॥

धर्म कर्म तें होत जब, निर्मल मति अति पीन।
तब श्रीहरि पद जुगल नर, लेत सहज ही चीन्ह ॥५६५॥

श्रीहरि शरणागत भये, लौकिक वैदिक व्यर्थ।
सकल दुरित निज भक्त के, मेटत आप समर्थ ॥५६६॥

याते सब विधि नित्य ही, श्रीहरि पद जलजात।
स्मरण कीरतन प्रेम तें, कबहुँ न तजिये तात ॥५६७॥

यातें परे दिखात नहिं, अपर लाभ कोउ मीत।
भक्ति भाव तें अधिक को; धर्म कहात पुनीत ॥५६८॥

सब योगिन में श्रेष्ठ वह, जो मन भरि सब भाँति।
श्रद्धा सहित भजे हरिहिं, लहत भक्त जन पाँति ॥५६९॥

दैवी माया गुणमयी, यह सहजहिं नहिं छूट।
जो हरि चरनन गहि रह्यो, तेहि माया नहिं लूट ॥६००॥

एक चित्त ह्वै सतत जो, भजत हरिहिं मतिमान।
तिन योगिन को जानिये, परम सुलभ भगवान ॥६०१॥

जामें सब कछु, सबन में, जो व्याप्यौ अज मीत।
एक भक्ति ही ते मिलत, सो हरि परम पुनीत ॥६०२॥

वेद यज्ञ तप दान व्रत, माहिं पुण्य जो आहिं।
तिन सबहीं को जीति हरि भक्त परम पद पाहिं ॥६०३॥

राजस तामस प्रकृति के राक्षस असुर अपूत।
बार बार भवसिंधु में परत कुचाल कपूत ॥६०४॥

दैवी प्रकृति पुनीत जो, सात्विक जन जग माहिं।
भजि अनन्य मन हरिहिं ते सुखद परम पद जाहिं ॥६०५॥

यत्नवान कीर्तन निरत, परम दृढ़व्रत धन्य।
नित्य युक्त वंदत चरण, भक्त कहात अनन्य ॥६०६॥

जो अनन्य चित हरिहिं नित भजत रहत मतिमान्।
रक्षत तिनके योग को आप सदा भगवान् ॥६०७॥

पत्र पुष्प फल तोय जो, हरिहिं भक्तिसह देत।
तिनहिं परम संतोष तें सादर प्रभुवर लेत ॥६०८॥

जो कछु करहु जहान में, जो खावहु जो देहु।
जो होमहु सो सब हरिहिं करहु समर्पण एहु ॥६०९॥

तबै शुभाशुभ कर्मकृत: बंधन तें छुटि जीव।
हरिप्रसाद लहि मुक्त ह्वै, आनंद लहत अतीव ॥६१०॥

यदपि दुराचारी मनुज दृढ़ अनन्य मति होइ।
भजत हरिहिं, तेहि जानिये परम साधु सब कोइ ॥६११॥

श्री हरि शरणागत भये, वेगिहिं होइ पुनीत।
दुराचार जन होत हैं परम धर्म कृत प्रीत ॥६१२॥

दुराचार तजि, होइ के धर्मात्मा जग जीव।
परम शांति सुख पाइकै हर्षित होइ अतीव ॥६१३॥

करी प्रतिज्ञा निज मुखहिं गीता में भगवान।
नाश होत नहिं भक्त को जानहु चतुर सुजान ॥६१४॥

श्री हरि पग गहि तरत जग पाप योनिहु जीव।
स्त्री विश्य शूद्र प्रधान गति गाहत मुदित अतीव ॥६१५॥

पुनि ब्राह्मण क्षत्रिय महा पुण्य भक्त सिरताज।
हरि शरणागति पाइकै तरत न करत अकाज ॥६१६॥

बिना भये अनुकूल हरि भव बंधन नहिं जाय।
यातें चाहौ मुक्ति तौ भक्ति करहु मन लाय ॥६१७॥

बिना भक्ति सब व्यर्थ हैं जप तप व्रत मख दान।
धर्म कर्म सब धूर हैं, जो न मिलैं भगवान ॥६१८॥

शुद्ध भाव तें होत बश बंशीधर गोपाल।
निज जन हेरत ही करत सब विधि तुरत निहाल ॥६१९॥

याते जो चाहौ सुगति भक्ति करहु चित चाहि।
हरि शरणागति होइ कै पुलकि कहहु 'प्रभु त्राहि' ॥६२०॥

श्री हरि मैं मन लाइ दृढ़ होइ भक्त अनुरक्त।
नमन करत तरि जात नर माया बंधन त्यक्त ॥६२१॥

तरत सोई संसार तें सरल चित्त धीमान्।
जो सब भाँतिन ते सुदृढ़, जान्यो श्री भगवान् ॥६२२॥

सब हरि तेंईं जानिये अग जग संसृति भीत।
यह जो जानत विमल मति भजत सोई गत भीत ॥६२३॥

सतत रहत रत हरिहि मैं जो जन चित हित लाइ।
ताके कल्मष धोइ हरि, निर्मल बुद्धि बनाइ ॥६२४॥

पाइ सुनिर्मल मतिहिं नर, भजन करत सब भाँति ।
तुरत तरत भवसिंधु तें पावत हरिजन पाँति ॥६२५॥

जप तप मख व्रत दान तें केवहुँ मै नहिं ईश ।
कबहुँ होत बश नहि कह्यौ, आपुहि श्री जगदीश ॥६२६॥

होइ जबै सब भाँति दृढ़ भक्ति अनन्य अखंड ।
तबै दूर यह होत है, माया विभव प्रचंड ॥६२७॥

करहुँ कर्म भगवानहित परम भक्त सब काम ।
संगरहित निर्वैर दृढ़ होगे तबै निहाल ॥६२८॥

क्यों चौरासी भ्रमत मन माया मैं लपटाइ ।
भव सागर के पार अब, चलहु ईश गुन गाइ ॥६२९॥

ऐसो स्वामी पाइ कै, क्यों भव भ्रमत अबोध ।
माया विभव विलास तजि करु उबरन की सोध ॥६३०॥

भजत भक्त जे सगुण अरु निर्गुण ब्रह्म सुजान ।
तिन दोउन मैं कौन हैं, श्रीहरि भक्त महान ॥६३१॥

श्री हरि चरनन लाइ चित भजन करत जे मीत ।
श्रद्धा सहित उदार मन ते हरि भक्त पुनीत ॥६३२॥

अरु जे हठ करि भजत हैं निर्गुण ब्रह्म उदार ।
ते बहु जन्मावधि सहत क्लेश अनेक अपार ॥६३३॥

यह कैसो है क्लेश, तुम, याको सुनहु बखान ।
अनिर्देश्य निर्गुण परक, होत कबहु थिर ध्यान ॥६३४॥

बिना रूप के ध्यान नहिं, होत सुनहुँ मन लाइ ।
यामैं निर्गुण ज्ञान पर क्लेशहिं परत दिखाइ ॥६३५॥

यातें रुचि अनुसार गहि, सगुन रूप करि ध्यान ।
जे ध्यावत ते पावहीं, अविलंबहिं भगवान ॥६३६॥

श्रीहरि मैं मन बुद्धि अरु चित्त लगाइ सुजान ।
भजै प्रेमते जो मनुज, ताहि भजत भगवान ॥६३७॥

यदि हरि मैं स्थिर चित्त नहिं, होइ सकै सुनु तात ।
तौ अभ्यास करौ सदा, पावन हित कुशलात ॥६३८॥

यदि अभ्यास समर्थ नहिं, तो हरि हित शुभ कर्म ।
सदा करौ सब भाँति यह सुखद सनातन धर्म ॥६३९॥

हरि कर्महुँ में नहीं, लगै चित्त जो मीत।
तौ सब कर्मन के सदा, फल त्यागो करि प्रीत ॥६४०॥

श्रेष्ठ ज्ञान अभ्यास तें ध्यान ज्ञान तें जान।
ध्यानहुँ ते सब कर्म फल, त्याग महान बखान ॥६४१॥

त्यागहि है जग में परम, मूल शांति को मीत।
याही तें ज्ञानी परै, प्रभु मैं परम प्रतीत ॥६४२॥

करै काहु तें बैर नहिं, मित्र रहै निरद्वंद।
राखै करुणा दीन पैं, तौ काटे भव फंद ॥६४३॥

जग तें ममता रहित ह्वै, अहंकार तजि जीव।
श्रीहरि शरणागत भये, पावत शांति अतीव ॥६४४॥

सुख दु:ख सम करि मानिये, क्षमा धारिये मीत।
याही तें मल होइगो, भव बंधन अपनीत ॥६४५॥

निर्मम निरहंकार नित, योगी नित संतुष्ट।
यत्नशील निश्चय सुदृढ़, भक्त प्रेम रस पुष्ट ॥६४६॥

श्रीहरि में मन बुद्धि अरु, कर्म समर्पित नित्य।
भक्त सहज ही दूर कर, यह भव बंध अनित्य ॥६४७॥

जातें कोउ अकुलात नहिं, जो काहू तें भिन्न।
सो नर जीवन मुक्त है, निर्मल चारु चरित्र ॥६४८॥

हर्ष अमर्ष विहीन भय, रहित विगत संदेह।
सदा शून्य उद्वेग तें मानव मुक्त सदेह ॥६४९॥

भक्त होत अनपेक्ष जग, उदासीन शुचि दक्ष।
सदा गतव्यथ प्रेममय, श्रीहरि पद कृत लक्ष ॥६५०॥

सर्वारंभहि त्यागि कै, हर्ष द्वेष ते दूर।
नहिं कांक्षा नहिं शोच कछु, प्रेम माधुरी चूर ॥६५१॥

सदा शुभाशुभ कर्म को, परित्याग जहँ होइ।
भक्ति भावना भरित जग, भक्त कहावत सोइ ॥६५२॥

शत्रु मित्र में सम सदा, शीत उष्ण मैं एक।
तुल्य मान अपमान मैं, सम सुख दु:ख विवेक ॥६५३॥

संग रहित निंदास्तुती, हीन मौन मत लीन।
सदातुष्ट सम भाव मैं, हरि पद निरत अदीन ॥६५४॥

अनिकेतन स्थिरमति सुधी, भक्ति भाव गंभीर।
तत्वज्ञान प्रसन्न चित, भक्त कहावत धीर ॥६५५॥

यह धर्म्यामृत सहित हित भक्ति शास्त्र को जोय।
पियत प्रेम सें, सो मनुज, निश्चय निज जन होय ॥६५६॥

ब्रह्म भूत नर मान्य तें है प्रसन्न मन मीत।
आकांक्षा अरु शोच तें रहित सदैव पुनीत ॥६५७॥

सब प्राणिन में सम सुमति श्रीहरि की विख्यात।
परा भक्ति पावत सुभट, बुद्धि विभव नर तात ॥६५८॥

जाने जात अचिंत्य अज भक्तिहि तैं भगवान।
यहाँ न ज्ञान न कर्म को बल बूझहु मतिमान ॥६५९॥

जानि तत्व करि हरिहि नर, पहुँचत जिनके पास।
वही सगुण निर्गुण प्रभू अखिल गुणन की रास ॥६६०॥

अज अशेष कल्याण गुण राशि अनिर्वचनीय।
अखिल चराचर भजत जेहि माया गुण अपनीय ॥६६१॥

करै कर्म सब फल तजै हरि चरनन आधीन।
भाव भक्ति में पगि करै भव बंधन सब छीन ॥६६२॥

श्री हरि के आधीन है लहै मुक्ति तत्काल।
करै कृपा जब वह तबै, मानव होय निहाल ॥६६३॥

बिना दया हरि की भये लहै परम पद कौन।
बिना प्रयास मिलै मुकति रीझै करुणा भौन ॥६६४॥

चित हित करि सब कर्म नर हरिहिं समर्पै तात।
माया तें तबहीं छुटै लहै परम कुशलात ॥६६५॥

जो चाहौ भवबंध तें छूटन सहजहिं मीत।
तौ सब तजि हरि चरन जुग भजहु सहेत पुनीत ॥६६६॥

जाको चित हरि तें रम्यौ सो हरि रूप कहाय।
कीट एक पर ध्यान तें ताको रूप धराय ॥६६७॥

श्री हरि मैं मन बुद्धि करि संतत करै प्रणाम।
छूटि भक्त भव सिंधु ते गति गाहत अभिराम ॥६६८॥

सबै धर्म हैं एक दिसि भक्ति एक दिसि मीत।
जो तुम समझौ सो करौ कर्म सुजान पुनीत ॥६६९॥

जो चाहो उधरन करौ श्री हरि भक्ति विशाल।
तब संशय तजि सहित हित धारहु हिय विश्वास ॥६७०॥

अहै अकथ हरि भक्ति रस पीयत रसिक अनूप।
निर्भय ह्वै विचरत रहैं अखिल चराचर भूप ॥६७१॥

चाखि सरस हरिभक्ति रस रसिक न रस चह अन्य।
पै कोऊ विरलौ मनुज यह सुख लहत अनन्य ॥६७२॥

श्री हरि सुमिरत सकल भव भय भागत भय मान।
निज जन कौं निज चरण में राखत श्री भगवान ॥६७३॥

भक्ति दीप मानस अजिर हरत सकल तम भीत।
जाके परम प्रकाश मैं चमकत बुद्धि पुनीत ॥६७४॥

होय बुद्धि निर्मल जबै तबै सकल भ्रम खोय।
मानस होय प्रसन्न अति भक्ति बीज चित बोय ॥६७५॥

भक्ति भाव रवि उर अजिर उदय होत जब मीत।
तब माया कृत तम सकल छिन्न होत अपनीत ॥६७६॥

जाने धारी सहित हित भक्ति सुमन की माल।
सो नर जीवन मुक्त ह्वै तुरतहिं होत निहाल ॥६७७॥

भक्ति सदन सुख जो चहै लहै सरन सो जाय।
श्री हरि बिनु नहिं मुक्ति को दूजो तात उपाय ॥६७८॥

भक्ति सुधा चखि होत जो अमर कर्म फल धोय।
व्यथा प्रलय की सर्ग को जन्म न पावत सोय ॥६७९॥

भक्ति रूप आदर्श मैं दीख परै निज रूप।
मिटै सकल दुःख द्वंद्व अरु भेंटै श्री अजभूप ॥६८०॥

भक्ति कुसुम उद्यान मैं विचरत जो स्वच्छंद।
सो पावत श्री हरि चरण कमल मधुर मकरंद ॥६८१॥

भक्ति सरोज समूह मधु मत्त भृंग मन मीत।
श्री हरि कमलाकर निकट बसत अनजीत ॥६८२॥

सुखद भक्ति आराम मधि प्रेमानिल मन खेद।
मेटत, भेंटत सुख सकल धरि हरि माया भेद ॥६८३॥

आगमि तें जो जन लहै भक्ति बसंत बहार।
ताको माया पाश तें तुरत होय उद्धार ।।६८४।।

अहो सुधाहू तें मधुर रसमय भक्ति रसाल।
जो याको चाखे, लहै श्री हरि धाम विसाल ।।६८५।।

श्री हरि पद जल जात मधु मन मधु कर चख मीत।
यातें भव बाधा कटै हटै सकल भव भीत ।।६८६।।

श्री हरि भक्ति रसाल रस चख मन शुक भरपूर।
मिलै अचल पद परम करि भव बंधन सब दूर ।।६८७।।

मानस सर तजि हंस तुम चलौ छीर निधि तीर।
भक्ति भाव मोती चुगौ पय पीवौ मतिधीर ।।६८८।।

हृदय गगन पूरन उदित भक्ति चंद्र अकलंक।
मेटि मूढ़ता तम सुकृत सुधा देत निरशंक ।।६८९।।

खिलै सुरभि मय मन सुमन भक्ति बसंत बयार।
लहि बितरै आमोद शुभ मुक्ति रूप मधुसार ।।६९०।।

भक्ति सुधा सागर सरस अवगाहहु मतिमान।
करुणासागर देहिंगे चरण सरण भगवान ।।६९१।।

भक्ति भावना जासु हिय भई भाग्यवश मीत।
तरत बेगि भव सिंधु सों करि निज कुलहिं पुनीत ।।६९२।।

हृदय गगन मैं भक्ति रवि उदय होत जेहि काल।
नसत सकल तम तुरत ही होत प्रकाश विशाल ।।६९३।।

मानस अंबर मैं जबै उदय भक्ति शशि होत।
तम परिहरि मति कुमुद पै स्रवत सुधा को स्रोत ।।६९४।।

लखौ भक्ति आदर्श मैं आत्म रूप मतिमान।
तबै जानि परिहै तुम्हैं तुमको अरु भगवान ।।६९५।।

भक्ति भाव को सुरभिमय शीतल मंद समीर।
पाइ होत अतिशय मगन मति कोकिल चित कीर ।।६९६।।

भक्ति नीर घनश्याम मति बरसत जब करि छोह।
हरी भरी है जात तब मन बसुधा तजि मोह ।।६९७।।

श्री घनश्याम सनेह उर, भक्ति दामिनी चाह।
चमकत जबै तबै करै, तमहरि जगत उछाह ।।६९८।।

भक्ति कुसुम मधु चाखि चित, मधुकर परम उदार।
गुंजत विचरत मत्त हैं, श्रीमाधव आगार ॥६६६॥
भक्ति मंजु मंदाकिनी, यम अनीकिनी मारि।
मुक्ति मुक्त की माल उर, पहिरावति हिय हारि ॥७००॥
भक्ति गंग की जब हिये, झलकति तुमुल तरंग।
तब लहि परमानंद जन, विजय करत भव जंग ॥७०१॥
भक्ति कुसुम आराम मैं, विचरहु रसिक सहेत।
याही मैं तुम कहूँ कबौं, मिलिहैं रमानिकेत ॥७०२॥
भक्ति गेह मैं जो रहत, कहत ताहि सब धन्य।
वही जु जीवनमुक्त है, वही जु भक्त अनन्य ॥७०३॥
भक्ति भाल मैं लिखि रही, मुक्ति विधायक रेखु।
जो तू चाहै तरन तौ, या दिसि हित करि देखु ॥७०४॥
भक्ति भुवन महँ भाग्य भट, जो विचरत हितमान।
ताकों सुलभ बखानिये, रमारमन भगवान ॥७०५॥
भक्ति भावना मैं पगो, रहत जासु मन मीत।
ताको करुणाकर तुरत, अपनावत करि प्रीत ॥७०६॥
भक्ति सिता को स्वाद यह, जानत रसना पूर।
जो हरि नामामृत निरत, रहत प्रेम मैं चूर ॥७०७॥
मन कोकिल जानत सुभग, भक्ति बसंत बहार।
हरि नामावलि कूक को, प्रतिछिन करत उचार ॥७०८॥
भक्ति भाव भावित हृदय, गत श्री चरण ललाम।
सबै काम पूरन करत, विलसत अविचल धाम ॥७०६॥
भक्ति सतसई कुसुम कृत, सुरभि भरित नवमाल।
अरपी श्री हरि चरण मैं, सुकवि किशोरीलाल ॥

इति श्री तदीय जन दासानुदास सुकवि किशोरी लाल गोस्वामी कृत
भक्ति सतसई समाप्ता ॥
हरिः ॐ तत्सत् ॥
॥ ॐ श्री कृष्णार्पणमस्तु ॥

विमर्श

'ढोलामारू रा दूहा'[१] के कतिपय संदेहास्पद प्रसंग : पुनर्विचार

महावीरप्रसाद शर्मा

•

राजस्थानी लोक साहित्य की अमूल्य निधि 'ढोलामारू रा दूहा' के कतिपय संदेहास्पद स्थलों को लेकर विद्वानों में काफी विचारविमर्श होता रहा है। इधर पठन पाठन करते समय मुझे अभी तक कुछ संदर्भ अस्पष्ट से जान पड़े हैं।

१— **सारीखी जोड़ी जुड़ी, आ नारी अउ नाह।**
राणी राजा सूं कहइ, कीजइ अउ वीमांह ॥ ६ ॥

अर्थ—रानी ने राजा से कहा कि यह बड़ी अनुरूप जोड़ी बनी है (अर्थात् वय, रूप, गुणादि की दृष्टि से दोनों समान हैं)। यह (मारवणी) पत्नी और वह (ढोला) पति। अतः आप उसका विवाह कर दीजिए।

ऊपर लिखे दोहे के अर्थ में विद्वान् एक मत नहीं है।

संपादकत्रय—'रानी राजा से कहती है—यह अनुरूप जोड़ी बनी है—यह वधू और वह वर। यह विवाह कीजिए।'[२]

प्रो० शंभूसिंह मनोहर[३]—'रानी राजा से कहती है—यह बड़ी अनुरूप (वय, रूप, गुण आदि की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त) जोड़ी जुड़ी है; यह (मारवणी) वधू और यह (ढोला) वर। अतः आप यह विवाह (संबंध) कर दीजिए।'

प्रस्तुत मत—'अउ' शब्द का अर्थ संपादक त्रय ने 'वह' दिया है (अउ नाह) जब कि प्रो० मनोहर ने 'यह' अर्थ दिया है। हमारे विचार से 'वह' अर्थ ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि पूगल नरेश एवं उनकी पत्नी ही विचारविमर्श कर रहे हैं।

१. ढोला मारू रा दूहा : संपादकत्रय, प्रकाशक, हिं० सा० स०, प्रयाग।
२. वही, पृ० २।
३. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, प्रकाशक श्री स्टूडेंट्स बुक कंपनी, चौड़ा रास्ता जयपुर, प्रथम संस्करण, पृ० १४७।

मारवणी और ढोला कुछ दूरी पर हैं, वहीं नहीं। अतः वार्तालाप के मध्य में एक प्रकार से दूरवर्ती अन्य पुरुष हो हैं। 'यह' समीपवर्ती सर्वनाम है, जब कि 'वह' दूरवर्ती। ढोला संभवतः कुछ दूर तो था ही। शायद प्रो० मनोहर ने संपादकत्रय के शब्दकोश से 'अउ' का अर्थ 'यह' लिया हो, लेकिन प्रयोग की दृष्टि से इस दोहे में 'वह' अधिक समीचीन जान पड़ता है।

२— ढोलउ माल्ह, परणिया वरदल हुवउ उछाह।
आ पूगलची पदमिणी, अउ नरवर चउ नाह ॥१०॥

संपादकत्रय[4]—संपादकत्रय ने 'वरदल' शब्द के दो अर्थ दिए हैं, १— धूमधाम से हुआ, २—दो श्रेष्ठ कुलों में संबंध हुआ। इनमें से प्रथम अर्थ तो केवल अर्थ के लिये ही है। दूसरे अर्थ में 'दो' की संख्या का 'वरदल' शब्द में कहीं बोध नहीं होता। वैसे संपादकत्रय ने स्वयं भी अर्थ की अस्पष्टता को स्वीकार किया है।

डा० माताप्रसाद गुप्त—डा० गुप्त ने अपने एक लेख में[5] 'वरदल' का अर्थ 'वरपक्ष' के अर्थात् बारात (वर+दल) लिया है। डा० गुप्त के इस शब्दार्थ पर श्री मूलचंद 'प्राणेश' ने आपत्ति की है। 'प्राणेश'[6] जी, 'वरदल' का अर्थ 'उपयुक्त' लेते हैं। श्री मनोहर जी भी डा० गुप्त के मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'शाब्दिक दृष्टि से यह अर्थ अधिक संगत है, किंतु यहाँ 'वरदल' शब्द कदाचित् इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। कारण, इस दृष्टि की दूसरी ही पंक्ति में कवि कहता है कि 'यह पूगल की पद्मिनी है और यह नरवर का अधिपति'। विवाह हो चुकने के बाद यह परिचय कैसा? बारात के उत्सव के साथ इस पंक्ति की क्या संगति है? स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ केवल तथ्यकथन करना नहीं है अपितु इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि कवि वरवधू की उपयुक्तता, उनकी जोड़ी की अनुरूपता या सादृश्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। अतः उसी संदर्भ में वरदल शब्द की अर्थसंगति बैठनी चाहिए, जो डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा किए गए अर्थ से नहीं बैठती।[7] इससे स्पष्ट है कि प्रो० मनोहर 'प्राणेश' जी के 'उपयुक्त' अर्थ से सहमत हैं। साथ ही उनके 'उछाह' (उत्सव) शब्द पर आपत्ति

४. ढोलामारू रा दूहा : संपादक त्रय, पृ० ३।
५. ढोलामारू रा दूहा में अर्थसंशोधन विषयक कुछ सुझाव (लेख), ना० प्र० प०, सं० २०१७, वर्ष ६५, अंक १।
६. 'ढोलामारू' के कतिपय संदेहास्पद स्थल : पुनर्विचार (लेख), ना० प्र० प०, सं० २०१ वर्ष ६७, अंक १।
७. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १४९–५०।

भी की है। आपने 'उछाह' शब्द का अर्थ विवाह संबंध लिया है। अपने मत-समर्थन में वे कहते हैं 'उत्सव' शब्द यहाँ 'समारोह' का पर्याय न होकर अपने विशिष्टार्थ में 'विवाह' का वाचक है।[८]

प्रस्तुत मत—हमारे मत में 'प्राणेश' जी के दोनों ही अर्थ उचित जान पड़ते हैं। प्रो० मनोहर के 'उछाह' शब्दार्थ से हमारा मतवैभिन्य है। विवाह हुआ है तभी तो 'उपयुक्त' (तदनुरूप) उत्सव भी हुआ है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। अतः अलग से 'उछाह' का अर्थ 'विवाहोत्सव' अथवा 'विवाह संबंध' प्रस्तुत करना पुनरुक्ति सा जान पड़ता है।

अर्थ—'ढोला और मारवणी का विवाह हुआ (इस अवसर पर) तदनुरूप (उपयुक्त) उत्सव हुआ। (क्योंकि) यह पूगल की पद्मिनी है और वह नरवर का स्वामी।'

३- जिम जिम मन अमलेकिअइ, तार चढंती जाइ ।
तिम तिम मारवणी तणइ, तन तरणापउ थाइ ॥१२॥

प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति अधिक विवादास्पद नहीं है।

संपादकत्रय—'ज्यों ज्यों मन अधिकार जमाता हुआ ऊँचा चढ़ता जाता है।'

डा० माताप्रसाद गुप्त—'चढंती क्रिया स्त्रीलिंग की है। 'तार चढंती जाइ' का अर्थ कदाचित् होना चाहिए 'तारकमाला चढ़ती जाती थी, अर्थात् उसके नक्षत्र अपने उच्च स्थान पर होते जाते थे।'[९] इस मत की आलोचना श्री भँवरलाल नाहटा ने की है। उनके अनुसार इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—'अमल का नशा करने पर ज्यों ज्यों मन में तार तरंगें उठती जाती हैं···।'[१०] डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस कथन की प्रत्यालोचना करते हुए कुछ बातें प्रस्तुत कीं जो निम्न प्रकार हैं–

(१) 'नाहटा जी ने 'जिम' और 'तिम' के लगातार दो-दो बार लाए जाने पर ध्यान नहीं दिया है। जिम जिम और तिम तिम भाषा में क्रमवाचक क्रिया विशेषण है, प्रकारवाचक नहीं।

८. वही, पृ० १५१।

९. ढोलामारू रा दूहा में अर्थ संशोधन विषयक कुछ सुझाव (लेख), ना० प्र० प०, सं० २०१७, वर्ष ६५, अंक १।

१०. ना० प्र० पत्रिका, सं० २०१८, वर्ष ६६, अंक १।

(२) 'अमल' अरबी शब्द है, जिसका अर्थ नशा होता है, 'अमल का नशा' अतः संभव नहीं ।

(३) 'तार' का नाहटा जी ने जो 'तरंग' अर्थ किया है, वह अनुमान से ही किया है । यह 'तार' फारसी का 'तार' है, जिसका अर्थ होता है, सूत्र, सूत का धागा, या किसी धातु का धागा । यह तार पुंलिंग है, जैसा कि नाहटा जी के द्वारा दिए हुए 'अमल के तार' से भी प्रमाणित है । नाहटा जी इस पर ध्यान न देते हुए उसे स्त्रीलिंग मान लेते हैं और अर्थ तरंग कर लेते हैं ।[11]

श्री मूलचंद प्राणेश—"ज्यों ज्यों मन के आधिपत्य से यौवन तरंगें बढ़ती जा रही हैं, त्यों त्यों मारवणी के तन में यौवनावस्था प्रकट हो रही है ।[12]

प्रो० शंभुसिंह मनोहर—'हमारे विचार से यहाँ 'जिम जिम' और 'तिम तिम' क्रमवाचक क्रियाविशेषणों के द्वारा क्रमशः 'वयःप्राप्ति' के साथ 'यौवनागम' का द्योतन करना ही कवि का उद्देश्य है । इस दृष्टि से प्रस्तुत दोहे की अपनी व्याख्या हमें आपेक्षिक दृष्टि से अधिक संगत प्रतीत होती है ।'[13] उनकी व्याख्या इस प्रकार है—'ज्यों ज्यों मन का प्रभुत्व (मन्मथजन्य प्रभाव) प्रकट करती हुई मारवणी (वय के) तारों पर चढ़ती जाती है···' ।

प्रस्तुत मत—यदि 'मन अमले किअइ' का अर्थ 'मन की काम भावना' ले लिया जाय तो न तो 'चढंती' क्रिया के स्त्रीलिंग होने की आपत्ति रहेगी और न ही 'अमल का नशा' । इस तरह उपर्युक्त दोहे की व्याख्या इस प्रकार होगी—'ज्यों ज्यों मन की कामभावना प्रकट करती हुई मारवणी वय के तारों पर चढ़ती जाती है (वयःसंधि को पार कर यौवन में प्रवेश करती है) त्यों त्यों उसके शरीर में यौवन का ओज प्रकट होता जा रहा है (कामभावना उदय होने लगती है) ।'

४— बाबहिया तर पंखियाँ, तइँ किउँ दीन्ही लोर ।
मइ जाणयउ प्रिय आवियउ ससहर चंद चकोर ॥३२॥

प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का 'तर पंखियाँ' विद्वानों की विवेचना का विषय रहा है ।

११. ना० प्र० प०, वर्ष ६६, अंक २-४ ।
१२. ना० प्र० प०, सं० २०१६, वर्ष ६०, अंक १ ।
१३. ढोला मारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १५४ ।

संपादकत्रय ने 'तर' शब्द का अर्थ 'गहरे रंग का'[१४] तथा 'तर—फारसी = हरा'[१५] दिया है।

डा० माताप्रसाद गुप्त 'तर' शब्द का पाठ शुद्ध न मानकर 'रत'[१६] पाठ मानते हैं, जिसका अर्थ लाल होता है।

श्री भँवरलाल नाहटा 'तर' के 'तरु'[१७] (वृक्ष हरा) पाठांतर की कल्पना करते हैं।

श्री मूलचंद 'प्राणेश' 'तर' का अर्थ 'लाल' मानते हैं[१८]। संपादकत्रय के 'तर' पाठ को भी सही मानते हैं। अपने मत के समर्थन में वे 'वेलि' का निम्नलिखित उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं —

क. करणियर 'तर' करण सेवती कूजा'—वेलि २१७।

ख. कणवीरना फूल राता करण ना फूल धउला'''

—वेलि की नारायणवल्ली तथा वनमाली टीका (ह० लि०)

प्रो० मनोहर, प्राणेश जी से बिलकुल असहमत हैं। उनके विचार से डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सुझाया हुआ 'रत' पाठ ही ठीक है। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने संपादित ग्रंथ में 'तर पंखिया' की जगह 'रत पंखिया' (लाल पंखोंवाला) पाठ भी स्वीकार कर लिया है। साथ ही प्राणेश जी के 'तर' (लाल) शब्द पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं: 'श्री प्राणेश का यह मत कि राजस्थानी में 'तर' का अर्थ 'लाल' होता है, उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि उनके द्वारा दिए गए उद्धरण में, 'कणियर तर' के स्थान पर 'कणियर तरु' पाठ है, जिसका अर्थ 'कर्णिकार का वृक्ष' होता है। श्रीयुत रामसिंह द्वारा संपादित 'वेलि' में यही पाठ मानकर टीका मे इसका अर्थ 'कर्णिकार के पेड़ में' किया गया है। इसके अतिरिक्त 'वेलि' की संवत् १६७३ में लिखित ढूँढाड़ी टीका में भी इस पंक्ति का अर्थ निम्नोक्त दिया गया है— 'कर्णर वृक्ष करणी सेवंत्री'।

'वेलि' की जिन टीकाओं का उल्लेख श्री प्राणेश ने अपने मत के समर्थन में

१४. ढोला मारू रा दूहा : संपादकत्रय, पृ० ८ (दूहे की व्याख्या में)।
१५. वही, पृ० १६२, (परिशिष्ट)।
१६. ना० प्र० प०, वर्ष ६५, अंक १।
१७. ना० प्र० प०, वर्ष ६६, अंक १।
१८. ना० प्र० प०, सं० २०१६, वर्ष ६७, अंक १।

किया है उसमें 'लाल' वाचक शब्द स्वयं टीकाकारों द्वारा प्रयुक्त 'राता'[19] ही है (कणवीर ना फूल राता), 'तर' नहीं ! 'तर' का अर्थ तो स्पष्ट 'तरु' ही है ।

प्रस्तुत लेखक के मत में 'तर' पाठ ही सही है तथा उसका अर्थ लाल नहीं 'हरा' है । मतसमर्थन में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं ।

(१) 'तर' शब्द फारसी में विशेषण है। जिसका अर्थ होता है—'आर्द्र', गीला; नवीन, नया; तत्कालीन, ताजा; हाल का, हरा ।[20]

(२) जीवविज्ञान की दृष्टि से देखने पर भी यही विदित होता है कि पपीहा (बाबहिया) 'लाल पंख' का नहीं, अपितु 'हरे पंख' का ही होता है। इस संबंध में संपादकत्रय का यह कथन पठनीय है। इसका रंग हरा और काला होता है ।[21]

(३) 'तर' का अर्थ तो वास्तव में 'तरु' ही है ।[22] 'तरु' का अर्थ 'वृक्ष' होता है। वृक्ष सदा 'हरा' होता है। अतः 'तर पंखिया' का अर्थ भी 'हरी पंखों-वाला' होगा ।

(४) 'तर' पाठ को अशुद्ध मानना तो बिलकुल ही गलत है। कारण कि 'तरु' देशी बोली में 'तर' उच्चरित होता है। साथ ही यदि पाठशुद्धि की ही धुन सवार है तो 'तर' का शुद्ध पाठ 'तरु' होना चाहिए । कारण कि प्राकृत भाषाओं में 'उ' का 'अ' होते देखा गया है ।[23] यही क्यों, इस संबंध में पुरानी राजस्थानी में भी यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है ।[24]

(५) श्री शंभुसिंह मनोहर ने अपने संपादित ग्रंथ के दोहा ६१ में 'निल-पंखिया' का अर्थ 'नीले (अर्थात् हरे) पीठ' किया है। हमें मनोहर जी का यह उलट फेर समझ में नहीं आता। एक ओर आप 'तर पंखिया' का 'रत पंखिया'

१९. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १६४-१६५ ।
२०. उर्दू हिंदी शब्दकोश, सं० मु० मुस्तफा खाँ, 'मद्दाह', प्रथम संस्करण, १९५९, पृ० २८० ।
२१. ढोलामारू रा दूहा, परिशिष्ट, पृ० १८७ ।
२२. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १६४-१६५ ।
२३. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, रिचर्ड पिशल, अनु० डा० हेमचंद्र जोशी, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० २१५, पैरा १२३ ।
२४. पुरानी राजस्थानी : तेस्सितोरी, अनु० डा० नामवर सिंह, पृ० २२ ।

बनाकर 'लाल पंखोंवाला' कहते हैं। दूसरी ओर उसी पपीहे को 'हरे पीठ' वाला कहते हैं। इन दोनों में क्या संगति है? स्पष्टतः 'तर' का अर्थ 'हरा'[२५] ही होता है। उसे 'रत' बनाकर भ्रष्ट नहीं किया जाय तो उचित होगा।

इस प्रकार हमारे विचार में 'तर' का अर्थ 'हरा' ही उपयुक्त है। इस अर्थ को लेने पर प्रस्तुत दोहे का अर्थ होगा—

हे हरी पंखोंवाले पपीहे! तूने क्यों टेर लगाई (पी आव पी आव)। (तुम्हारी टेर सुनकर) मैंने समझा कि चकोरप्रिय शशांकधर चंद्रमा के समान मेरे प्रिय आ गए।

*

२५. ढोलामारू रा दूहा : संपादक त्रय, परिशिष्ट, पृ० १८७ ।

चयन

पंजाबी की उत्पत्ति : एक विश्लेषण

मूल : प्रेम प्रकाश सिंह   अनुवाद: आशानंद वोहरा

•

पंजाबी एक आधुनिक आर्यभाषा है, इसमें कोई संदेह नहीं, परंतु यह बात अभी तक संदेहास्पद है कि पंजाबी की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई। पंजाबी भाषा की उत्पत्ति भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसी समस्या के रूप में चली आ रही है जिसका समाधान अभी तक नहीं हो सका है। इसके संबंध में विद्वानों ने अनेक विचार प्रस्तुत किए हैं परंतु कोई भी दृढ़ आधार पर आधारित नहीं है, जिसे निर्णय के रूप में स्वीकार किया जा सके। इस विषय में एवं इसके निर्णय में कई विघ्न हैं, कई बाधाएँ हैं जिन के रहते हुए इसकी उत्पत्ति संबंधी समस्या का कोई संतोषजनक समाधान और अंतिम निर्णय नहीं हो सका है।

१. पंजाबी की उत्पत्ति के संबंध में अभी तक किसी प्रकार का भाषा-वैज्ञानिक आधार पर अनुसंधान नहीं हुआ है जहाँ कि बंगाली, मराठी, सिंधी, नैपाली, गुजराती और हिंदी के विषय में पूरी पूरी खोज हो चुकी है।

२. पंजाबी प्रदेश वह स्थान है जहाँ से अभी तक कोई भी प्राचीन शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ है जिससे पंजाबी भाषा की प्राचीनता का अनुमान और तुलना की जा सके और न ही प्राचीन नाट्यसाहित्य में इसकी कोई प्रतिनिधि भाषा मानी जाती है।

३. पंजाबीभाषी प्रदेश भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र के एक सिरे पर है जहाँ द्राविड़ (बरूही, बलोचिस्तान), ईरानी, 'दरदीय' (डर्डिक) और तिब्बत-चीनी (हिमालयाई भाषाएँ) भिन्न रूप की और भिन्न परिवार की भाषाओं का संगम है।

४. इस प्रदेश का राजनैतिक और प्रादेशिक इतिहास बहुत ही अनिश्चित रहा है और यहाँ निरंतर अशांति रही है।

५. यहाँपर शक, हूण, सिथीअन, ग्रीक आदि जातियाँ अपनी निजी विशेष भाषाओं सहित आकर निवास करती रही हैं और परस्पर मिलती जुलती रही हैं।

उक्त समस्त कारण चाहे भारत के अन्य भाषाप्रदेशों में भी प्रभाव डालते रहे हैं परंतु जिस बल और जिस तेजी के साथ इस पंजाबी प्रदेश को इन्होंने प्रभावित किया है वैसा अन्य को नहीं। इन बातों के कारण जहाँ पंजाबियों का आचरण एक विशिष्ट और अपने निराले रूप में विकसित हुआ है वहाँ यहाँ की भाषा भी विचित्र और अनोखी है। विघ्नकारक अंगों के कारण पंजाबी भाषा के मूल, विकास और प्रभाव के विषय में बहुत कम विचार हुआ है। परंतु फिर भी भारतीय और विदेशी अनुसंधानकर्ताओं ने चलते चलते इसके संबंध में कुछ संकेत अवश्य किए हैं जिनका सांगोपांग विवरण देना यहाँ आवश्यक होगा।

१—श्री पी० डी० गुणे : पंजाबी और पश्चिमी हिंदी शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित हुई मानी जाती हैं। लहंदी और कश्मीरी शायद पैशाची अपभ्रंश से विकसित हुई हैं।[1]

२—श्री दुनी चंद्र : शौरसेनी अपभ्रंश से आधुनिक पश्चिमी हिंदी और पंजाबी विकसित हुई हैं। पंजाबी का कैकय (पैशाचिका) के साथ एक घनिष्ठ संबंध है।[2]

३—ग्रियर्सन : माझे प्रांत मे पहिले पैशाची ही बोली जाती थी, धीरे धीरे शौरसेनी के रिवाज ने पंजाब में भी जोर पकड़ा। पंजाबी की नींव पैशाची है परंतु उसपर इमारत शौरसेनी की खड़ी की गई है।[3]

पंजाबी बिल्कुल भिन्न दो भाषाओं के संयोग से बनी हुई भाषा है—पहली आधुनिक पश्चिमी पंजाबी की भाषा लहंदी की जननी प्राचीन पैशाची और दूसरी पश्चिमी हिंदी की मूलभाषा मध्यदेशीय प्राकृत।[4]

४—तारापुरवाला : जिस भाषा से लहंदी और पंजाबी विकसित हुई हैं उस भाषा का प्राकृत साहित्य और संस्कृत साहित्य में कोई वर्णन नहीं है। पर फिर भी इनपर शौरसेनी का प्रभाव अवश्य है।[5]

५—श्री धीरेंद्र वर्मा : लहंदा के लिये एक कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती

१. इंट्रोडक्शन टु कंपैरेटिव फिलोलौजी, पृ० १२३।
२. हिंदी और पंजाबी का भाषाविज्ञान, पृ० २५–२७
३. दुनीचंद्र द्वारा उद्धृत।
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया, भूमिका, पृ० १४।
५. एलीमेंट्स आव् द साइंस आव् लैंग्वेज, पृ० ५२।

है…। पंजाबी का संबंध भी कैकय अपभ्रंश से ही माना जाता है, किंतु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है।[६]

६—श्री भोलानाथ तिवारी : कैकय अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा पश्चिमी पंजाबी या लहंदा का विकास हुआ है… पूर्वी पंजाबी या पंजाबी मध्य पंजाब की भाषा है। … कैकय से इसकी भी पैदाइश है, पर शौरसेनी का प्रभाव अधिक पड़ा है।[७]

७—प्रो० राम सिंह : पंजाबी शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है।[८]

८—डा० बनारसीदास जैन : यह ग्रियर्सन के ही अनुयायी हैं और पंजाबी तथा लहंदा यह दो भेद मानते हैं।

९—डा० मोहन सिंह : उज्जैन से लेकर पेशावर तक और सिंध से लेकर कन्नौज तक महाराष्ट्री प्राकृत थी…उससे देशभाषा…मराठी, गुजराती, राजस्थानी डिंगल, सिंधी, पंजाबी आदि विकसित हुई हैं। पंजाबी अपभ्रंश का नाम उस समय (८वीं सदी) पैशाची, अवहट्ट (अपभ्रष्ट) और भूतभाषा था … आभीर भाषा, पैशाच भाषा, भूतभाषा, अवहट्ट, जटकी ये सब पुरानी पंजाबी के नाम हैं।[९]

१०—प्रो० सुरेंद्र सिंह कोहली : पंजाबी और पश्चिमी हिंदी जिस अपभ्रंश से विकसित हुई हैं उसे शौरसेनी कहते हैं। तक्षशिला विश्वविद्यालय इस प्राकृत का केंद्र माना जा सकता है।

११—प्रिंसिपल तेजा सिंह : उसके (ग्रियर्सन) अनुसार हमारी पंजाबी पैशाची और प्राकृत के मेल से बनी है। 'नहीं …' हमारी भाषा का विकास आर्यों की भाषा से हुआ है। वेद पंजाबी में है, आज से काफी पुरानी पंजाबी में है, परंतु हैं पंजाबी में, संस्कृत में नहीं। संस्कृत तो पीछे जाकर बनी।[१०]

१२—श्री नलिनीमोहन सान्याल : वाल्हिकी से पंजाबी का जन्म हुआ है।[११]

६. हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ४३।

७. १—भाषाविज्ञान, (द्वि० सं०, १९५७) पृ० १४२।
 २—वही, (द्वि० सं०, १९५७) पृ० १४२।

८. देखें—शब्द चमत्कार (पंजाबी)।

९. मिलिंदार साहित्य सरोवर (पंजाबी), पृ० ७१-८१।

१०. साहित्य दर्शन (पंजाबी) २०, ११७।

११. देखें—'बिहारी भाषाओं का विकास'।

१३—डा० गोपाल सिंह दर्दी : पूर्वी पंजाबी का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ माना जाता है......'पश्चिमी पंजाबी की अपभ्रंश की अभी तक खोज नहीं हो सकी है।'[१२]

१४—प्रो० कृपाल सिंह, परमेंद्र सिंह : पंजाबी का मूलस्रोत ऋग्वेद की वह भाषा है जो भारत में आने के समय आर्यों की प्रचलित भाषा थी और जो बदलती बदलती पैशाची प्राकृत और अपभ्रंश का रूप धारण करती हुई सिथीअन, हूण, गुजरों, जटों, अहीरों आदि अनार्य जातियों की भाषा के प्रभाव द्वारा सातवीं आठवीं शताब्दी में देशी भाषा का रूप धारण कर चुकी थी।[१३]

उपरोक्त समस्त विचारों का सारांश देते हुए चार सिद्धांत या मत पंजाबी भाषा के विकास के संबंध में स्थापित किए गए हैं —

(१) पंजाबी और लहंदा दो पृथक् पृथक् भाषाएँ हैं— पंजाबी का विकास शौरसेनी से हुआ है और लहंदा का पैशाची से।

(२) मूल आधार पैशाची है परंतु प्रभाव शौरसेनी का है।

(३) पंजाबी और लहंदा दोनों ही पैशाची विकसित हुई हैं।

(४) वैदिक संस्कृत से सीधे ही पंजाबी का जन्म हुआ है।

इन मतों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना सबसे पहले आवश्यक है ताकि हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री डा० जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'भाषा सर्वेक्षण' में अनुमान से ही संकेत कर दिया है कि पंजाबी (पूर्वी पंजाबी) भीतरी उपशाखा से संबंधित है और लहंदा (पश्चिमी पंजाबी) बाहरी उपशाखा से संबद्ध है। इससे उनका भाव पंजाबी और लहंदा दो पृथक् पृथक् स्रोतोंवाली भाषाएँ बताना है। परंतु सबसे पहले तो ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण ही ठीक नहीं। इस संबंध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भाषाओं – असमिया, बँगला, उड़िया, मराठी, सिंधी और लहंदा के उदाहरण देकर और तुलना करके ग्रियर्सन के उपरोक्त वर्ग-विभाजन को निर्मूल सिद्ध किया है क्योंकि इन भाषाओं में परस्पर कोई विशेष समानताएँ नहीं हैं।

१२. पंजाबी साहित्य का इतिहास (पंजाबी), पृ० २१।
१३. द्रष्टव्य 'पंजाबी साहित्य दी उत्पत्ति ते विकास'।

श्री चटर्जी का यह सिद्धांत अब सर्वस्वीकृत हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० ग्रियर्सन ने अपने सिद्धांत (वैंड थ्योरी) की, जो कि पहले डा० ए० एफ० आर हार्नले ने प्रस्तुत किया था, पुष्टि करने के लिये विवशता से पंजाबी को दो भागों में विभाजित किया है। आगे चलकर डा० साहिब ने 'भूमिका' में स्वयं ही स्वीकार किया है कि पंजाबी और लहंदा की सीमाएँ और भाषाई समानताएँ इतनी परस्पर मिली जुली हैं कि दोनों को पृथक् करना और दोनों की सीमा का निर्धारण करना न केवल कठिन ही है अपितु असंभव भी है। इसके अतिरिक्त इन दोनों भाषाओं (लहंदा पंजाबी और पूर्वी पंजाबी) को कई विद्वानों ने स्वतंत्र रूप में एक ही माना है। डा० बनारसी दास जैन ने बताया है कि एच० ए० रोज अपने एक निबंध 'कंट्रीब्यूशन टु पंजाबी लेक्सिकोग्राफी' में पंजाबी को पंजाब की भाषा समझता है और इसमें लहंदा, पहाड़ी बांगरू आदि को भी संमिलित करता है। डा० हार्नले और अन्य विद्वानों ने लहंदा को 'मुल्तानी' के नाम से पंजाब की बोलियों के अंतर्गत स्थान दिया था, किंतु अब यह एक स्वतंत्र बोली के रूप में प्रमाणित हो चुकी है, जिसका संबंध पंजाबी की अपेक्षा सिंधी से अधिक है।[१४] प्रिंसिपल तेजा सिंह ने इस उपरोक्त मत की कि पंजाबी और लहंदा पृथक् हैं, छानबीन करते हुए यह मत स्थापित किया है कि 'इस (पंजाब) समस्त प्रदेश की भाषा पंजाबी है जिसमें मालवा, दुआबा, माझा, बार, पोठोहार धनी, मुल्तान संमिलित हैं। लहंदा, पंजाबी का अटूट अंग है।' प्रिंसिपल साहिब ने पूर्वी पंजाबी विशेष करके माझी की तुलना लहंदा के साथ करके यह सिद्ध किया है कि ये दोनों भाषाएँ आपस में बहुत मिलती हैं। इसलिये माझी और लहंदा का घनिष्ठ संबंध है। माझी और मलवई जितनी परस्पर मिलती हैं उतनी ही लहंदा और माझी मिलती हैं। 'रकार' को अपने संयोगी अक्षर के साथ समान रूप न दे करके इसको स्थिर जैसे माझी रखती है वैसे ही लहंदा भी। 'पुतर', 'मूतर' 'सुतर', 'त्रै' आदि शब्दों के 'रकार' को माझी और पोठोहारी लहंदा ने सँभाल कर पृथक् ही रखा है परंतु मलवई में यह 'रकार' 'तकार' का रूप हो गया है और 'तकार' का द्वित्व हो गया है — 'पुत्त' मूत, सूत।

प्रिंसिपल साहिब के ये उदाहरण बिल्कुल अकाट्य हैं और भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की कसौटी पर भी ठीक उतरते हैं। इनके अतिरिक्त डा० धीरेंद्र वर्मा

१४. तुलनात्मक भाषाविज्ञान—डा० पांडुरंग दामोदर गुणे : पृ० २१३ (डा० भोलानाथ तिवारी, द्वारा अनूदित)।

भी स्वीकार करते हैं कि 'पंजाबी भाषा लहंदा के साथ ऐसी मिली हुई है कि दोनों को अलग करना कठिन है, किंतु पश्चिमी हिंदी से इसका (पंजाबी का) भेद स्पष्ट है।'[१५]

इन विचारों पर एक और विचार करके जब हम भाषा और उपभाषा के संबंधों को और उपभाषाओं के परस्पर संबंधों को सर्वसाधारण नियम के अनुसार 'पूर्वी पंजाबी' और 'पश्चिमी पंजाबी' के मुख्य रूप में परखते हैं तो भी पूर्वी और लहंदा एक ही मूल भाषा की दो आधुनिक उपभाषाएँ सिद्ध होती हैं। यद्यपि 'हिंदी' के नामाधीन बिहारी भाषाएँ·····मगही, मैथिली, और भोजपुरी–– जिनमें मोहि, तोहि (हिंदी–हम, तुम), देखलन, देखलिन (हिंदी भूतकाल : देखा, देखे) देखवी, देखवी (हिंदी भविष्यत् कालः देखूँगा, देखेंगे) आदि संज्ञाएँ और क्रियाएँ बिल्कुल भिन्न हैं, और राजस्थानी भाषाओं को जो और भी अधिक पश्चिमी हिंदी से अलग हैं, केवल हिंदी की उपभाषाएँ गिना जा सकता है तो थोड़ा सा अंतर रखनेवाली लहंदा भाषा और पूर्वी पंजाबी भाषाएँ कैसे पृथक् की जा सकती हैं।

इस बात पर शायद किसी ने ध्यान नहीं दिया कि भिन्नतावादी (सेपेरेटिस्ट) विद्वान् स्वयं दोनों को साधारणतः 'पंजाबी' ही लिखते हैं, जैसे पंजाबी और लहंदा पंजाबी, पश्चिमी पंजाबी आदि। जिस का स्पष्ट अर्थ है कि दोनों को पंजाबी कहना उचित है परंतु उपभाषाई अंतर बताने के लिये 'पूर्वी पंजाबी' और 'पश्चिमी पंजाबी' (जैसे पूर्वी हिंदी और पश्चिमी हिंदी) कह देना कोई अशुद्ध बात नहीं।

विश्लेषण और तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पंजाबी की भाषाएँ एक ही भाषा के दो रूप हैं या उपभाषाएँ हैं। भाषाविज्ञान ने एक ही भाषा की उपभाषाओं की जो परस्पर समानताएँ बताई हैं, जिनके आधार पर उन उपभाषाओं को एक भाषा में जोड़ा जाता है, वह इन दोनों पंजाबी की भाषाओं में भी मिलती हैं।

(१) दोनों की ध्वनियों में समानता है। संस्कृत 'य' को दोनों में 'ज' होता है, जैसे; यज्ञ—जग्ग, कार्य—कारज। दोनों में व को 'ब' होता है, जैसे : वणिक–– बाणीआ, वृत्ति––बिरती, दोनों में मूर्धन्य वर्णों (सेरेब्रल्स ट, ठ, ड, ढ, ण, और ड़) की एक जैसी भरमार है। कोड़ा, मैंडा, तैंढा, दिहाड़ा, डिहाड़ा, डूंग्र, कावड़, साडी, साड्डी, कढे हैं, अड्डी, सब में मूर्धन्य अक्षर है।

१५. हिंदी भाषा का इतिहास––पृ० ५४ (चतुर्थ संस्करण, १६५३)

२. संज्ञा रूप (डिक्लेशंस) विभक्तियाँ (केस टर्मिनेशंस) और परसर्गों (पोस्ट पोजीशंस) में भी काफी समानता है। 'उथरों' (उधर से), अपादान कारक, 'कुथरे' (कहाँ), अधिकरण कारक आदि पोठोहारी, मुल्तानी, केंद्रीय पंजाबी में समान हैं। परसर्गों में भी समानता है—

'ते' 'निच निच चषमां तैंडिया राहां ते रखां वे'। (पोठोहारी)

'मखूह किसे ते बीना ऐं तों परत मुहार नूँ, मेरे हाथी ढोला ओ।
(मुल्तानी—भंगी)

'सिर धर के तली ते आजा लंघणा यार दी गली।' (मलवई)

'मीहाँ दी उडीक ते सिआड़ कढके। (माझी)

उक्त समस्त पंक्तियों में 'ते' 'परसर्ग' 'पर' का अर्थ देता है। 'दा, दी, दे' संबंध कारक परसर्गों (जेनेटिव पोस्ट पोजीशंस) पोठोहारी को छोड़कर सबमें समान है। 'नाल', 'विच', के (के)—ला के, लाइ के, लाइ के, ते— अते आदि परसर्ग समान हैं।

३. क्रियारूपों में भी समानता है। दोनों प्रकार की पंजाबी भाषा में वर्तमान काल की क्रियाएँ 'दकार' के साथ अंत होती हैं। कढेद (मुल्तानी), कढदै, कढदा (माझी, मलवई), कढयें (पोठोहारी)। पोठोहारी में यहाँपर अंतर है।

४. शब्दावली में तो और भी अधिक समानता है। वाल, सस्स, मूँह, धरत रात, निकाला, लड्डा, गल्ल, चिठी, घर, दस्सणा, भल्ली, हल्ल, इच्छा, आदि सब पंजाब के साझे शब्द हैं।

५. दोनों में पंजाबी की विशेष विशेषता द्वित्व की प्रधानता है। अर्थात् संयुक्तवर्ण द्वित्व हो जाते है : मझीआं, लड्डां, हत्थ, रंन।

इन उपरोक्त विचारों और तर्कों से किसी प्रकार का भी संदेह नहीं रह जाता कि पंजाबी और लहंदा दोनों एक ही बोली के दो आधुनिक रूप हैं। इस मत की स्थापना के साथ ही इस सिद्धांत का भी खंडन हो जाता है कि पंजाबी शौरसेनी से निकली है, और लहंदा पैशाची से; क्योंकि एक ही मूल भाषा से निकलने-वाली दोनों भाषाओं के भिन्न भिन्न मूल स्रोत कैसे सिद्ध किए जा सकते हैं। यह तो एक समय के लिये कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार की पंजाबी भाषाओं का मूल शौरसेनी है या पैशाची है परंतु यह कहना उचित नहीं कि ऊपर से शाखा रूप में काफी समानता रखनेवाली दोनों भाषाओं का मूल भिन्न भिन्न है। आइए इस पर भी विचार कर लें।

भाषावैज्ञानिक लहंदा को पैशाची से निकला मानते हैं परंतु यह नहीं बताया गया कि पैशाची और अब की लहंदा में भाषा के किस अंग की समानता है और पैशाची में किस नियम और किस प्रणाली से वह समानता आई है। इससे स्पष्ट है कि इस पैशाची को पंजाबी की या लहंदा की मूल भाषा बतानेवाले विद्वान् कुछ इस संबंध में अनिश्चित विचार रखते हैं और सुनी सुनाई बात पर विश्वास करके अपना मत स्थापित करते हैं। यह ठीक है कि उन विद्वानों की सहायता के लिये कोई पुस्तक या संपूर्ण व्याकरण नहीं है जो पैशाची की आकृति प्रकृति को बताती हो, परंतु फिर भी हेमचंद्र, राम शर्मा, मारकंडेय आदि प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची संबंधी जो थोड़ा बहुत वर्णन करते हुए प्रकाश डाला है उसपर विचार करने और परस्पर तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा कि मानने योग्य कौनसी बात हो सकती है।

यह तो सभी मानते हैं कि प्रत्येक भाषा में उसकी जननी के कुछ न कुछ अंश वर्तमान रहते हैं—वे अंश चाहे व्याकरण संबंधी हों, ध्वनि संबंधी हों या शब्दावली संबंधी हों। अब हमें यह देखना है कि पैशाची के कोई भाषाई तत्व लहंदी के साथ मिलते भी हैं या नहीं।

डा० कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी 'मराठी भाषा : उद्गम व विकास' में हेमचंद्र के अनुसार बताते हैं कि पैशाची में वर्ग के तीसरे अक्षर (वायस्ड सानेंट) के स्थान पहिला (अन वायस्ड सर्ड) होता है। अर्थात् ग, ज, ड, द, ब के स्थान पर क्रमशः क, च, ट, त, प होते हैं जैसे तमोतर (दमोदर), नकर (नगर), पालक (बालक)। परंतु जब हम यह लक्षण वर्तमान पंजाबी और लहंदा दोनों पर घटाते हैं तो बिल्कुल प्रतिकूल रूचि दिखाई देती है। दोनों प्रकार के पंजाबी रूपों की ध्वनियों में यह विशेष विशेषता है कि इनमें क, च, ट, त, प, के स्थान पर क्रमशः ग, ज, ड, द, ब, होते हैं जैसे, 'मुगती' (मुक्ति), मंजा (मंच), कड़ाह (कटाह), पतंदर (पत्यंतर=पति के अतिरिक्त कोई अन्य), कबूतर (कपोत)। अब इस ढंग में हमने देख ही लिया है कि पूर्वी पंजाबी और लहंदा पंजाबी दोनों ही पैशाची के मुख्य लक्षणों से प्रतिकूल हैं परंतु परस्पर समान हैं।

डा० श्यामसुंदर दास और कुछ अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पैशाची में मूर्धन्य वर्ण (सेरेब्रल साउंड्स) अर्थात् 'ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़' कम हैं, उनके स्थान पर 'त थ, द, ध, न' (डेंटल साउंड्स) हो जाते हैं। संस्कृत के मूर्धन्य वर्ण पैशाची में दंत्य हो जाते हैं, जैसे कुटुंबकम् से कुतुंबकम्। इस अंगसंबंधी कुछ मतभेद हैं पर यह बात तो ठीक है कि पैशाची में मूर्धन्य भाव (सेरेब्रलाइजेशन) इतनी अधिक संख्या में नहीं हो सकता जितना कि पंजाबी

और विशेष करके लहंदा पंजाबी में है। इनकी विशेषता ही इस बात में है कि इनमें शेष भारतीय भाषाओं से मूर्धन्य अक्षर बहुत अधिक हैं। इस पक्ष में पैशाची तथा लहंदा और पंजाबी की कोई समानता नहीं है अपितु विभिन्नता है। पैशाची की यह रुचि ईरानी भाषाओंवाली हैं जहाँ 'ट' को 'त' होता है और जहाँ संस्कृत 'उष्ट्र' को 'उश्तर' या शुतर ही कहते हैं।

पैशाची में 'णकार' के स्थान 'नकार' हो जाता है, जैसे, 'गुण गुण' के स्थान 'गुन गुन' परंतु लहंदा और पंजाबी में बिल्कुल इससे विपरीत रुचि है। वहाँ 'णकार' की बहुत ही प्रधानता है। 'कंपन-कंबण', 'चलन--चलणा', 'खाणा, पीणा, रोणा, हस्सणा', आदि सब में ही 'नकार' के स्थान पर 'णकार' है।

इन उदाहरणों एवं तुलना से स्पष्ट शब्दों में यही सिद्ध होता है कि पैशाची न तो लहंदा की और न ही पूर्वी पंजाबी की जननी है। इस संबंध में प्रिंसिपल तेजासिंह की राय, जिनका जन्म और पालनपोषण लहंदा प्रदेश में ही हुआ है, बड़ी महत्वपूर्ण है। उनका तर्क ठीक प्रतीत होता कि हम पश्चिमी और पूर्वी पंजाब के निवासी शुद्ध आर्य संतान हैं, हमारी पंजाबी पैशाची या भूतभाषा से नहीं बनी अपितु सीधे वैदिक भाषा से चली आ रही है। पैशाची को अच्छे अच्छे विद्वानों ने जिनमें जार्ज ग्रियर्सन भी शामिल है, 'दरदीय' (डार्डिक) भाषा कहा है। दरदीय भाषाएँ, निस्संदेह भारतीय भाषाएँ नहीं हैं। इनका संबंध ईरानी मूलभाषा से बहुत है, चाहे वे भी आर्यभाषाओं की ही संतान हैं।

हाँ, यह तो हो सकता है कि पंजाबी के पड़ोस में पैशाची रही होगी जिसकी आधुनिक भाषाएँ डा० श्यामसुंदर दास के अनुसार, कश्मीरी और उसकी पश्चिमी भाषाएँ हैं और जिनमें अब भी पैशाची का लक्षण 'ग' के स्थान पर 'क' होता है। पड़ोसी की हैसियत से उसपर थोड़ा बहुत प्रभाव जरूर पड़ गया होगा परंतु यह प्रभाव सिर्फ इतना ही होगा जितना कि एक पड़ोसी भाषा का दूसरी पर पड़ता है। परंतु प्रभाव किस अंश में, किस अंग में, पंजाबी पर पैशाची का मिलता है, इस विषय पर सब मौन हैं।

यहाँ एक बात और भी विचार करने योग्य है कि सिंधी और लहंदा दोनों पड़ोसी और सीमा प्रांत की भाषाएँ हैं। इनमें समानता भी बहुत अधिक है। जान बीम्स के अनुसार और डा० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के अनुसार लहंदा में मूर्धन्य वर्ण--विशेषकर 'ड' और 'ण' की बहुलता केवल सिंधी में ही है जहाँ हर 'द' को विशेष नियमों के अधीन 'ड' होता है। दिवस—दिहु—दिहाड़ा—डिहडु (सिंधी,) देराई--डेई, दुख--डुख आदि कुछ उदाहरण हैं। यह 'ड' की बहुलता लहंदा (मुल्तानी और पोठोहारी) दोनों में ही आम है। मैंडा, तैंडा,

तुहाड़ा, असाडा, हुड़, (दो), दुख (दुःख) आदि उदाहरणों से यह स्पष्ट है। अब सब विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि सिंधी 'व्राचड़' अपभ्रंश से निकली है। 'व्राचड़' अपभ्रंश, इसके प्रसिद्ध तीन भेदों—नागर, उपनागर, व्राचड़ में एक मानी जाती है जो कि शुद्ध आर्य है और प्रसिद्ध है। जिसकी (व्राचड़ की) व्युत्पत्ति डा० ब्लाश ने व्रज (व्रज, तद्भव रूप) शब्द से मानी है जो मध्यप्रदेश का वाचक है। अब यहाँ यह असंभव सी बात है कि सिंधी को तो 'आर्यभाषा' से निकली मानते हैं परंतु सिंधी की साथिन और आर्य परिवार में रहनेवाली लहंदा कैसे पैशाची से निकली सिद्ध हो सकती है ?

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि अशोक के समय (दूसरी शताब्दी बी० सी०) मध्यप्रदेश (पंजाबी और लहंदा पंजाब सहित) में कोई भी शिलालेख खुदा हुआ नहीं मिलता। अशोक के शिलालेख दूर पश्चिम में, जिला पेशावर और हजारा के मानसेरा और शाहबाज गढ़ी में मिले हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि सम्राट् ने पूर्वी और लहंदा पंजाब में इसकी आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि यह देश शौरसेनी प्रदेश की भाषा को अच्छी तरह समझता था, या ऐसे कहो कि उसके किसी रूप से संयुक्त और संबंधित था। उसने वहाँ आगे जा के अपने आदेश (अभिलेख) खुदवाए जहाँ इस देश से (पंजाब से) भिन्न भाषा थी। यह हो सकता है कि वहाँ पैशाची का प्रभाव और क्षेत्र आरंभ होता हो। इसका अनुमान उन शिलालेखों की लिपि से भी सिद्ध हो सकता है जो भारतीय ब्राह्मी नहीं है और जो अभारतीय ईरानी लिपि की ही रूपांतर खरोष्ठी है जिसका आधुनिक रूप अरबी फारसी लिपि है।

इस विवेचन से यही भाव स्पष्ट होता है कि भाषाई आधार पर पैशाची और लहंदा या पूर्वी पंजाबी की कोई समानता नहीं है। पैशाची एक दरदीय भाषा या अनार्य प्राकृत रही है। इसका लेनदेन भारतीय भाषाओं के साथ इतना रहा है कि मार्कंडेय जैसे प्राकृत वैयाकरणों ने इसके क्षेत्र को बताते हुए लगभग सारा उत्तरी भारतवर्ष संमिलित कर लिया है और साथ ही कई भेद किए हैं। यहाँतक कि शौरसेनी को भी, जो सबसे उत्कृष्ट और आर्य सभ्यता के केंद्र मध्य देश की प्रतिनिधि भाषा है, पैशाची से ओतप्रोत समझकर 'शौरसेनी पैशाचिका' एक भेद गिन दिया है। यह सब ही जानते हैं कि शौरसेनी बिल्कुल शुद्ध वैदिक आर्य प्राकृत है परंतु भ्रम हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता कि लहंदा पैशाची से निकली है। इस विवेचन से इस मत का भी खंडन हो जाता है कि हमारी पंजाबी का आधार पैशाची है या पंजाबी पैशाची और भूतभाषा में से निकली एक आधुनिक भाषा है।

अब इस पहले मत के दूसरे भाग का विवेचन करना उचित होगा जिसके अनुसार पूर्वी पंजाबी का जन्म शौरसेनी से हुआ माना जाता है। 'शूरसेन' मथुरा, वृंदावन, आगरा और देहली के पश्चिमोत्तर भाग के प्रदेश का प्राचीन नाम था। इस शूरसेन प्रदेश की भाषा से संबंधित होने के कारण (तद्धित प्रत्यय लगाकर) 'शौरसेनी' कहा जाता था। इसकी और पंजाबी की रूपरेखा आज भी बहुत मिलती है। परंतु प्राचीन समय में इसके विकास क्षेत्र का कोई संतोषजनक पता नहीं मिलता। इस समीपता में रहनेवाली भाषाओं की समानताएँ भाषा के आधार पर विचार योग्य हैं।

शौरसेनी प्राकृत के विशेष लक्षणों को जब आधुनिक पंजाबी पर घटाते हैं तो लगभग सारे ही पंजाबी में प्राप्त होते हैं।

शौरसेनी की विशेष विशेषता यह बताई जाती है जो वैयाकरणों ने लिखी है, कि इसमें वर्ग के पहले, अक्षर क, च, त, ट, प के स्थान पर क्रमशः तीसरा अक्षर होता है[१६]। यही प्रवृत्ति वास्तविक रूप में आधुनिक पंजाबी में है। न केवल पूर्वी पंजाबी में अपितु लहंदा पंजाबी में भी। इसके उदाहरण हैं—'भगती (भक्ति) अंदर (अंतर), मंज (मंचक), कंबणी, (कंपन) आदि। शौरसेनी की इस विशेषता को संभाल कर रखनेवाली सिर्फ एकमात्र पंजाबी ही है। उसी की सीधी पुत्री या पौत्री उर्दू या हिंदी में इसके कुछ थोड़े ही अंश हैं जो धीरे धीरे मिट रहे हैं। इस अंग में पंजाबी और शौरसेनी की समानता प्रत्यक्ष है।

शौरसेनी में 'यकार' को 'जकार' होता है जहाँ मागधी और अर्द्धमागधी प्राकृत में 'य' ही रहता है बल्कि मूल 'ज' को 'य' कर दिया जाता है। पंजाबी ने अबतक इस प्रवृत्ति को अपनाए रखा है। सूर्य—सूरज, युग—जुग, संयम—संजम आदि। अब चाहे धीरे धीरे कुछ 'य' ध्वनि फिर आ रही है।

शौरसेनी में श, स, दोनों के स्थान पर दंत्य 'स' ही होता है। इस प्रवृत्ति को पंजाबी में प्रायः देखा जाता है। शोक—सोग, दोष—दोस, श्रुति—सुरत आदि।

क्रियाओं में और कृदंतों में शौरसेनी संस्कृत के 'त' के स्थान पर 'द' रखती है जो पंजाबी भाषा में आज भी सुरक्षित है।

१६. 'सर्द् स आर चेंज इंटु सानेंट्स।'—वूलनर।

	संस्कृत	शौरसेनी	पंजाबी
क्रिया	कथ्यति	कधेदि	कहिंदा
वर्तमान काल	पृच्छति	पुच्छदि	पुछदी, दा
भूत	दृष्ट	दीसदि	दिसदा, डिठा
कृदंत	गत	गच्छदि	गच्छदा (जांदा)

इन उदाहरणों में पंजाबी शौरसेनी के 'द' को उसी रूप में रख रही है। पंजाबी की यह विशेषता है कि वर्तमान काल की क्रियाओं में 'द' अवश्य होता है।[१७] जो उस समय से प्रचलित है।

इस तुलना से जो पंजाबी और शौरसेनी अपभ्रंश की समानताएँ मिलती हैं, उससे तो कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है कि पंजाबी का मूल शौरसेनी है परंतु इस में भी पूरी स्वीकृति का कोई अधिक अवसर नहीं दिखाई देता। इस संदेह पर और इसके निर्णय के विषय में आगे थोड़ी ही दूर जाकर विचार करेंगे।

अब इस मत की व्याख्या के विषय में भी कुछ चर्चा कर लेनी ठीक है कि 'पंजाबी सीधी वैदिक संस्कृत से विकसित हुई है और वेद पंजाबी बोली में है।' यदि इस सिद्धांत का भाव यह है कि पंजाबी का मूल स्रोत (पेरेंटल स्टाक) वैदिक संस्कृत या ऋग्वैदिक भाषा है और वहाँ से पंजाबी प्राकृतों, अपभ्रंशों से (अर्थात् प्राइमरी सेकेंडरी और टर्शिअरी प्राकृतों से) होती हुई यहाँ पहुँची है तो इसमें संदेह का कोई स्थान नहीं। परंतु यदि हमारा इससे भाव यह है कि पंजाबी सीधे, बिना किसी अन्य परिवर्तित रूप के वैदिक भाषा से ही निकल आई है तो कुछ विचारणीय और चिंतनीय बात अवश्य है।

पाँच हजार वर्ष से चली आती हुई कोई भी भाषा स्थिर नहीं रह सकती। अपितु वैज्ञानिकों का तो यह विचार है कि भाषा हर समय बदलती है। तो फिर ऋग्वेद की भाषा कैसे एकदम आज की पंजाबी का रूप धारण कर सकती है। इसने पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के अवश्य ही रूप धारण किए हैं।

'ऋग्वेद और शेष वेद पुरानी पंजाबी में ही थे' इसमें कुछ ममता दिखाई देती है। यह तो ठीक प्रतीत होता है कि वेद मंत्र पंजाबी भाषा की धरती पर ही उच्चरित किए गए थे जिसपर पंजाबीभाषियों को गौरव है, परंतु यह कोई बहुत ही तर्कपूर्ण विचार नहीं है कि वेद पंजाबी में है क्योंकि वेदों की भाषा ही पंजाबी की

१७. इन सब विशेषताओं के उदाहरण डा० वूलनर की पुस्तक 'ऐन इंट्रोडक्शन टु प्राकृत्स' के आधार पर लिखे गए हैं।

तरह सब आधुनिक भाषाओं—हिंदी, बिहारी, मराठी, गुजराती, सिंधी, बँगला की जन्मदात्री है। वे सब ही वेदों की भाषा को अपना अपना नाम दे सकती हैं। परंतु फिर भी इतनी बात जरूर है कि पंजाबी में अपनी मातृभाषा के प्रति अधिक निष्ठा है।

नलिनीमोहन सान्याल के मत के विषय में दो चार शब्द कह देना आवश्यक है जो पंजाबी की उत्पत्ति 'वाल्हिकी' से मानते हैं। 'वाल्हिक' (सं० बाह्लीक)[१८] आधुनिक बलख (बुखारे) का प्राचीन संस्कृत नाम है। यह देश पंजाब से बहुत ही दूर पश्चिम उत्तर में है। इससे पंजाबी की उत्पत्ति का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। साथ ही चौथी पाँचवीं शती ए० डी० में सम्राट् चंद्रगुप्त ने सप्तसिंधु को (आधुनिक पंजाब) पार करके इन वाल्हीकों पर विजय प्राप्त की थी। इसका वर्णन उनके एक मेहरौली शिलालेख में पद्यबद्ध रूप में मिलता है—तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिंधोर जिता वाल्हिकाः। अर्थात् जिस चंद्रगुप्त ने सिंध की सात नदियों को पार करके 'वाल्हिक' को जीता है। इसलिये पंजाबी की उत्पत्ति 'वाल्हिकी' से किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती और न ही इसके विषय में किसी अन्य ने हठ किया है।

हमारी समस्त विवेचना का सारांश यह है कि पंजाबी की उत्पत्ति पैशाची या भूत भाषा से नहीं हुई है। पंजाबी और लहंदा दो पृथक् पृथक् भाषाएँ नहीं अपितु एक ही हैं। पंजाबी और शौरसेनी का कोई समीप का संबंध है। पंजाबी वैदिक संस्कृत से क्रमशः विकसित हुई है। पंजाबी की उपज वाल्हिकी से संभव नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि फिर पंजाबी की जननी कौन सी भाषा है जिससे इसका संबंध जोड़ा जाए। आइए, इसपर विचार करें।

हम पीछे विचार कर ही आए हैं कि शौरसेनी प्राकृत और पंजाबी[१९] बहुत से भाषाई तत्वों और अंशों में समान हैं जिससे कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है कि वर्तमान पंजाबी शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न हुई है। परंतु इस सिद्धांत को एकदम स्वीकार नहीं किया जा सकता और न तो इसको अंतिम निर्णय (सिद्धांत) ही स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इन दोनों भाषाओं—शौरसेनी और पंजाबी में कुछ ऐसी भिन्नताएँ हैं जो इस सिद्धांत की सर्वस्वीकृति के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करती हैं और किसी अन्य दिशा की ओर हमारे निर्णय को ले जाती हैं।

हमने पीछे देखा था कि शौरसेनी की एक विशेषता यह है कि क्रियाओं में

१८. देखें : दिनेशचंद्र सरकार की पुस्तक और उसका भारत का नक्शा।
१९. देखें : वूलनर, वही, पृ० ५१।

और क्रिया संज्ञाओं में (जैसे कृदंत, भूत कृदंत जो क्रिया का काम भी देते हैं) 'त' के स्थान पर 'द' होता है और यही विशेषता पंजाबी की क्रियाओं में चली आती है परंतु इसके साथ साथ पंजाबी में कई ऐसे रूप हैं—विशेष करके भूतकालिक कर्मवाच्य कृदंत के, जिनमें 'त' के स्थान पर 'द' नहीं होता अपितु संस्कृत की भांति 'त' ही रहता है।

पंजाबी	शौरसेनी	संस्कृत
दित्ता	देदि	दत्त ('दा' धातु)
पीता	पिवदि	पीत ('पा' धातु)
न्हाता	......	स्नात ('स्ना' धातु)
धोता	......	......
सीता	......	स्यूत
लीता	......	......
बीती (गल)	......	......

इसके अतिरिक्त प्राकृत में यह भी नियम था जिसको होल्सेल कांसोनेंटल एसीमिलेशन कहा जाता है अर्थात् दो संयुक्त वर्णों को समीकृत किया जाता था, समरूप किया जाता था। विशेष करके दो स्वरूपों के मध्य। यही नियम शौरसेनी में भी प्रचलित था। यही नियम शौरसेनी से उत्पन्न भाषाओं में भी होना चाहिए। परंतु पंजाबी में यह नियम पूरी तरह लागू नहीं होता। कई शब्दों के संयुक्त अक्षर समरूप नहीं होते अपितु 'स्वर भक्ति' (एनैप्टिक्सिस) के कारण अलग अलग रहते हैं। पंजाबी[२०] में दो संयुक्त वर्णों के मध्य किसी स्वर का जुड़ जाना और इसलिये उनको द्वित्व होने से बचाना प्रायः देखने में आता है। इस प्रवृत्ति की ओर कई विद्वानों ने भी संकेत किया है। जैसे—

पंजाबी	प्राकृत	अपभ्रंश	संस्कृत
पुत्तर (मलवई : पुत्त)	पुत्त	पुत्तु	पुत्र
कुधर (मा० म० : किथे)	कुत्तो	...	कुत्र
जिधर	...	...	यत्र
मूतर	...	...	मूत्र
भ्रिष्ट	भ्रवइट्ट	...	भ्रष्ट
सूतर	...	...	सूत्र

२०. यहाँ 'पंजाबी' में पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाबी दोनों सम्मिलित हैं, क्योंकि हम दोनों प्रकार की भाषाओं को एक ही भाषा सिद्ध कर आए हैं।

इसका यह भाव नहीं कि पंजाबी में समीकरण (एसीमिलेशन) होता ही नहीं अपितु काफी अधिक मात्रा में होता है। सैकड़ों शब्द ऐसे भी मिलते हैं :

हत्थ	...	हस्त	चंम	...	चर्म
कम्म	...	कर्म	काज	...	कारज।

परंतु कुछ अपवाद रूप भी इक्के दुक्के मिलते हैं ये प्रकट करते हैं कि पंजाबी का मूल शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इसके अतिरिक्त उस युग में प्राकृतों के भेद कोई बहुत गहरे नहीं थे। साधारणतः प्राकृतें – मागधी, महाराष्ट्री शौरसेनी परस्पर समानताएँ रखती थीं, उनमें केवल थोड़ी सी विभिन्नताएँ थीं। उस समय से चली आ रही देशी भाषाओं में थोड़ी सी विभिन्नताएँ, विशेष करके ध्वनियों और व्याकरण के क्षेत्र में, इसके अकाट्य प्रमाण हैं कि किसी देशी भाषा का संबंध उस प्राकृत के साथ नहीं हो सकता जिसके साथ वह व्याकरणिक अंशों में न मिलती हो।

हमारी इस आपत्ति और संदेह को डा० धीरेंद्र वर्मा ने और भी पुष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि 'शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती तथा पश्चिमी हिंदी निकली हो यह समझ में नहीं आता। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश शूरसेन प्रदेश अर्थात् आजकल के ब्रज प्रदेश की उस समय की बोलियों के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाएँ रही होंगी। साथ ही उस काल में अन्य प्रदेशों में भी आजकल की भाषाओं और बोलियों के पूर्व रूप प्रचलित रहे होंगे जिनका प्रयोग साहित्य में न होने के कारण उनके अवशेष अब हमें नहीं मिल सकते[२१]।' यह बात ठीक भी प्रतीत होती है कि एक प्राकृत से ही चार पाँच शताब्दियों के मध्य (२०० ई०पू० से ६०० ई० तक) चार प्रधान और विशाल क्षेत्र की भाषाएँ सहसा कैसे निकल सकती हैं। अवश्य उस प्राकृत के साथ कोई अन्य स्वतंत्र प्राकृत होगी या उसका ही कोई भेद होगा जिससे यह भिन्न भिन्न भाषाएँ विकसित हुई होंगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शौरसेनी एक महत्वपूर्ण प्राकृत रही है। जो सीधे ही संस्कृत वैदिक से संबंधित है और जिसको उच्च प्राकृत माना जाता रहा है। शौरसेनी के अतिरिक्त नाटकों में उत्तरपश्चिम भारत (पंजाब) की अन्य कोई प्राकृत नहीं मिलती जिसको हम पंजाबी की पहले की भाषा कह सकें और न ही कोई ऐसे शिलालेख हैं। इस अन्य भाषा (शौरसेनी के अतिरिक्त) के अस्तित्व में होने

२१. डा० धीरेंद्र वर्मा-हिंदी भाषा का इतिहास 'फुटनोट', पी पी ५०।

का यही युक्तियुक्त प्रमाण हो सकता है कि आज के पंजाबी प्रदेश की पहले की भाषा शौरसेनी से कोई बहुत दूर की भाषा नहीं होगी। यदि होती तो उसको भी नाटकों में अवश्य प्रतिनिधित्व मिलता। साथ ही डा० हार्नले ने ईस्टर्न हिंदी ग्रामर की भूमिका में लिखा है कि उत्तर भारत में दो ही भाषासमुदाय थे शौरसेनी समुदाय और मागधी समुदाय। उत्तर की ओर मागधी और दक्षिण की ओर शौरसेनी। इसका भाव यह है कि शौरसेनी का बोलबाला सारे उत्तरपश्चिमी और मध्य भारत में होगा, चाहे वह शौरसेनी सीधे तौर पर लोगों की भाषा होगी या प्रभावशाली रूप में अन्य कुछ भेदवाली भाषाओं को प्रभावित करके। इसके चतुर्दिक् प्रभाव को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

परंतु डा० तारापुरवाला के कथनानुसार पंजाबी और लहंदा की नाटकों में कोई प्रतिनिधि भाषा नहीं और क्षेत्र की विशालता को देखकर यही प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पंजाबी को जन्म देनेवाली कोई शौरसेनी से प्रभावित अन्य प्राकृत रही होगी जिससे आधुनिक पंजाबी का जन्म संभव है। उसको चाहे शौरसेनी का भेद कहा जाय या शौरसेनी से प्रभावित बताया जाय, शौरसेनी के संबंध से पृथक् नहीं रखा जा सकता। तब यह प्रश्न रह जाता है कि वह कौनसी प्राकृत है जो शौरसेनी से संबंधित है या शौरसेनी से प्रभावित है परंतु पृथक् है?'

प्राचीन व्याकरणों से, जैसे 'प्राकृत प्रकाश (वररुचि) प्राकृतसर्वस्व (मार्कंडेय), प्राकृत चंद्रिका, शब्दानुशासन (हेमचंद्र), कुवलयमाला (उद्योतन सूरि), प्राकृत लक्षण (चंड), षड्भाषा चंद्रिका (लक्ष्मीधर) आदि से पता लगता है कि पुराने पंजाब की भाषा का कोई एक निश्चित नाम नहीं था। उन पुस्तकों के अनुसार पंजाब की पुरानी भाषा के कई नाम लिए जाते थे। जिनमें से यह कुछ प्रसिद्ध हैं और जो विश्वस्त रूप में इस प्रदेश की भाषा के ही प्राचीन नाम सिद्ध हो चुके हैं—'(हिमवती) पांचाली, कैकयी, टक्की या ढक्की', परंतु दुःख की बात यह है कि इन भाषाओं या देशी भाषाओं का कोई निश्चित उद्धरण नहीं मिलता जिससे इनकी प्राचीन रूपरेखा को जाना जा सके।

इन भाषाओं के उद्धरण के न होने के कारण यही प्रतीत होता है कि महाराष्ट्री और अवंती या लाटी प्राकृतों की तरह इन हमारी पुरानी पंजाबी प्राकृतों (देशभाषाओं) का भी वर्णन पृथक् रूप में नहीं होता था अपितु इनको शौरसेनी का भेद मानकर इनके स्थान पर 'नाटकीय शौरसेनी' या 'साहित्यिक शौरसेनी' का भी प्रयोग ठीक समझा जाता था। जैसे, आज हमें पता है कि पुरानी गुजराती का नाम 'लाटी' रहा है परंतु फिर भी 'लाटी' को पृथक् प्राकृत न मानकर इस गुजराती को शौरसेनी से ही उत्पन्न हुई मानते हैं। यह कोई अनुचित बात नहीं थी क्योंकि

शौरसेनी के प्रभावाधीन ही यह विकसित हुई थी, चाहे इनके अपने भी कई स्वतंत्र विशेष लक्षण थे। यही कारण है कि पुराने वैयाकरणों, अलंकारशास्त्रियों और साहित्यकारों ने कैकय आदि को स्वतंत्र प्राकृत न मानकर 'देशी भाषाएँ' या 'ग्रामीण भाषाएँ' या 'विभाषाएँ' कहकर ग्रंथों में संकेत किया है।

इनके विषय में व्याकरणों में जो कुछ चलते लक्षण बताए गए हैं उनसे इनके रूप का कोई पता नहीं लगता। डा॰ कुलकर्णी ने 'मराठी भाषा : उद्गम व विकास' में मार्कंडेय और उद्योतन सूरि के, इनके विषय में यह कथन दिए हैं—

'वाडी बहुला पांचाली, वकार प्राया ट (ट) क विभाषा स्वीप्सा कैकयी, टाकं टक्क भाषा नागरोपनागरादिभ्योऽवधारणीयम्।'

अर्थात् व, डी की बहुलतावाली पांचाली, 'व' की प्रधानतावाली टक्की नागर और उपनागर के मेल से बनी हुई टक्की और 'स्वीप्सा' वाली कैकयी। परंतु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया। इन उद्धरणों के आधार पर कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। अब हमें दूसरी प्रणाली अपनानी चाहिए।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि कैकय देश आज के पश्चिम पंजाब को कहा जाता है और टक्क पूर्वी पंजाब का नाम रहा है। टक्क के विषय में बूलनर ने स्यालकोट का प्रदेश बताया है, इसके विषय में चाहे न भी निश्चय हो परंतु कैकय के विषय में तो इतना निर्णय है कि कैकय प्रदेश कम से कम पश्चिमी पंजाब अवश्य है। परंतु यह निर्णय सिर्फ उनकी ओर से है जो पूर्वी पंजाबी और लहंदा को पृथक् पृथक् दो भाषाएँ मानते हैं। पांचाल देश सारे विशाल पंजाब को ही कहा जाता होगा। जहाँ पाँच 'अल' अर्थात् दरिया बहते हों। पंचाल, 'पंच + अल' का ही कुछ तद्भव रूप दिखाई देता है : पंचाल < पंचअल < पंच अल। परंतु भाषा के लिहाज से पांचाली नाम प्रसिद्ध नहीं जितना कि केकयी या टक्की (टक्की) प्रचलित है। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि पंजाबी की जननी प्राकृत (जिनको प्रायः विभाषा कहा जाता रहा है) कैकयी या टक्की ही हो सकती है।

अब हम इन दोनों के विषय में विद्वानों के कथन पढ़ते हैं तो टक्की से कैकयी की महानता ही सिद्ध होती है। राम शर्मा ने भी शुद्ध और अशुद्ध पैशाची के भेद बताते हुए कैकयी को ही एक भेद गिना है (कैकयी पैशाचिका) परंतु टक्की को नहीं। हो सकता है टक्की शौरसेनी के दबाव में आकर, बहुत समीप होने के कारण अपना अस्तित्व या पृथक्ता को खो बैठी हो, जो भी थोड़ी बहुत इसमें थी। परंतु यह बात कैकयी पर लागू नहीं हो सकती थी। या दूसरी बात यह भी हो सकती है कि कैकयी, शौरसेनी प्राकृत के साथ ईसा की पहली शताब्दियों में पंजाब

की भाषा की प्रतिनिधि हो और अपभ्रंश के समय टक्की नाम ही कैकयी नाम के साथ साथ पड़ गया हो जैसे ऊपर के उद्धरण में बताया गया है कि नागर अपभ्रंश और उपनागर अपभ्रंश से टक्की समझनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि पंजाबी की पहली प्राकृत या अपभ्रंश या विभाषा 'कैकयी' है जिससे पंजाबी (पूर्वी और पश्चिमी पंजाबी) का जन्म होता है।

इस संबंध मे श्री धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है कि 'लहंदा के लिये एक कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। पंजाबी का संबंध भी इस कैकय अपभ्रंश से ही माना जाता है किंतु, बाद को इसपर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है।[२२]

श्री भोलानाथ तिवारी ने भी इस बात की पुष्टि की है कि 'कैकय अपभ्रंश' से 'पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा पश्चिमीपंजाबी या लहंदा का विकास हुआ है।' 'पूर्वी पंजाबी या पंजाबी मध्य पंजाब की भाषा है। कैकय से इसकी भी पैदाइश है'।[२३] तिवारीजी ने अन्यत्र भी लिखा है कि 'टक्क और मद्र प्राकृत भी इसी (कैकयी) की शाखाएँ थीं। इन सभी का क्षेत्र पश्चिमी पंजाब था[२४] ...... 'कैकय एक प्राकृत थी,......कैकय एक अपभ्रंश भी है'।[२५]

श्री दुनीचंद भी लिखते हैं— 'पंजाबी का कैकयी अथवा कैकय पैशाचिका के साथ घनिष्ठ संबंध हैं'।[२६]

श्री श्यामसुंदर दास ने लिखा है कि जिस प्रदेश में यह लहंदा बोली जाती है, वह लगभग प्राचीन कैकय देश है।

भाषावैज्ञानिकों की इन उपरोक्त उक्तियों से जो नवीनतम खोजों पर आधारित है, यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक पंजाबी की उत्पत्ति 'कैकयी' प्राकृत से ही होती है।'

इसका समर्थन और पुष्टि भाषाई तत्वों की तुलना के आधार पर भी निस्संदेह सिद्ध हो जाती है। हम पीछे देख आए हैं कि पंजाबी शौरसेनी प्राकृत के साथ

२२. हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ४८-४६।
२३. भाषाविज्ञान, पृ० १७८ (द्वितीय संस्करण, १६५७)।
२४. वही, पृ० १३८।
२५. वही, पृ० १३८।
२६. हिंदी और पंजाबी का भाषाविज्ञान, पृ० ८५।

काफी समानता रखती है अपितु दोनों में एक महत्वपूर्ण समानता है। परंतु साथ ही हमने यह भी देखा था कि शौरसेनी के 'द' के स्थान में कहीं कहीं 'त' है और शौरसेनी के समीकृत शब्दों के स्थान पर पंजाबी में कहीं संयुक्त वर्ण पृथक् भी प्रचलित हैं। शौरसेनी की यह अनियमितता 'कैकयी' में भी मिलती है जहाँ 'द' के स्थान पर अधिकतर 'त' होता है। श्री श्यामसुंदर दास ने पुरानी खोज के आधार पर लिखा है कि 'इनकी भाषा (कैकय देशवासियों की भाषा, कैकयी) में दो स्वरों के मध्य एक 'त' हुआ करता था जो अब तक पश्चिमी पंजाबी मिलता है। इस 'त' के उदाहरण 'कीता' (कदा), 'पीता', 'सीता' आदि हम पीछे देख आए हैं।

श्री श्यामसुंदर दास का यह कथन केवल लहंदा के लिये है परंतु इसमें पूर्वी पंजाबी भी शामिल की जाती है, क्योंकि एक तो हम पहले पूर्वी पंजाबी और लहंदा पंजाबी को एक ही भाषा सिद्ध कर आए हैं और दूसरा यही 'त' पूर्वी पंजाबी में भी स्पष्टतः प्राप्त है। इसलिये पूर्वी पंजाबी और पश्चिमी पंजाबी (कुछ सिंध का भाग भी) की उत्पत्ति इस 'कैकयी' से ही है।

यदि यहाँ यह शंका की जाय कि राम शर्मा और मार्कंडेय ने पैशाची के स्थानीय भेद करते हुए कैकयी के साथ पैशाचिका जोड़कर कैकयी को पैशाची का ही उपभेद माना हो, तो यह तर्क कोई वजनदार नहीं। मार्कंडेय ने न केवल कैकयी को ही पैशाची से संयुक्त किया है प्रत्युत शौरसेनी को भी। अब यह बात तो सब ही जानते हैं कि शौरसेनी एक शुद्ध आर्य प्राकृत है, इसको किसी ने भी पैशाची के साथ संयुक्त नहीं किया, और न ही इसपर पैशाची का कोई प्रभाव ही माना है परंतु फिर भी मार्कंडेय ने पैशाची का उपभेद शौरसेनी पैशाचिका अंकित किया है। जैसे आर्य प्राकृत शौरसेनी को पैशाची के साथ घसीटकर जोड़ दिया है, उस तरह कैकयी को भी पैशाची के साथ जोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। इन लेखकों का भाव इससे यह हो सकता है कि शौरसेनी आदि पर समीपता के कारण पैशाची का कुछ प्रभाव पड़ा होगा जो 'कैकयी' पर भी संभव है।

इस 'कैकयी' के आर्यभाषा और उत्तम भाषा होने के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता जब हम देखते हैं कि 'कैकयी' प्रदेश के किसी उच्च परिवार की सुपुत्री के साथ कोशल जनपद के राजा दशरथ ने अपना विवाह करना स्वीकार किया था। रामायण में दशरथ की पत्नी और भरत की माता 'कैकेयी' का नाम प्रसिद्ध है। यह 'कैकेयी' नाम इसी कैकय प्रदेश में उत्पन्न होने का प्रमाण है जैसे 'द्रुपद' की पुत्री 'द्रौपदी' और जनक की पुत्री 'जानकी'। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कैकय देश और उसकी प्राकृत 'कैकयी', रामायण के समय ज्ञात थी क्योंकि इसका वर्णन रामायण में वाल्मीकि ने किया है। रामायण का रचनाकाल डा० विंटरनित्ज के अनुसार तीसरी चौथी सदी ई०पू० है, जब 'पालि' से अन्य प्राकृतें निकल रही थीं।

तो फिर इसका भाव यह है कि पंजाबी की जननी कैकयी प्राकृत तीसरी दूसरी सदी ई० पू० में अपनी पृथकता के कारण विकसित हो रही थी। ईस्वी पूर्व तीसरी चौथी सदी में 'कैकयी' नाम के प्रचलित होने की सूचना पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र [७-३-२] में होती है जहाँ यही नाम आता है। पाणिनि का काल निस्संदेह ई०पू० चौथी पाँचवीं सदी माना जाता है। अतः यह प्राकृत शौरसेनी की तरह पुरानी सिद्ध होती है, परंतु इतनी प्रसिद्ध नहीं। यह शौरसेनी की एक ग्रामीण बहन कही जा सकती है परंतु जिसका संबंध शौरसेनी की तरह 'पालि' के साथ ही है और सीधे रूप में कैकयी के विकसित होने का मत इन भाषाई तथ्यों से ही पुष्ट होता है कि कैकयीवाला 'त' पालि में भी 'त' ही है।

पंजाबी	पालि	शौरसेनी	महाराष्ट्री
कीता	कत	कद, कइ	अक

पालि के साथ सीधे संबंध की पुष्टि कुछ इस बात से भी होती है, यदि डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार पालि का विकासस्थान मध्यप्रदेश मान लिया जाय और दूसरी ओर तक्षशिला की प्रसिद्धता मानी जाय तो पालि की समीपता मे कोई संदेह नहीं रह जाता।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि कैकयी दूसरी प्राकृतों की भाँति सीधे ही पालि से आ गई है, शौरसेनी या अन्य समकालीन भाषाओं से नहीं। यह तो ठीक है कि बहुत देर तक सातवीं, आठवीं शताब्दी ए० डी० तक इसे कोई विशेष प्रमुखता नहीं मिली।

कैकयी जैसे जैसे बढ़ती गई तैसे तैसे इसका नाम और रूप भी परिवर्तित होता गया। हो सकता है, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि बाद में इसका नाम टक्क अपभ्रंश ही पड़ गया हो या प्राकृत से अपभ्रंश रूप में परिवर्तित होते समय इसको 'टक्क अपभ्रंश' भी और 'कैकयी अपभ्रंश' भी कहा जाता हो। यहाँ यह भी संभव है कि कैकयी की अपभ्रंश रूपरेखा को 'उपनागर' अपभ्रंश का नाम दिया गया हो क्योंकि उपनागर, नागर और ब्राचड़ अपभ्रंश के मेलवाली एक अपभ्रंश की शाखा बताई जाती है। नागर (गुजरात, मध्यदेश, राजस्थान) और ब्राचड़ (सिंधु) के मध्य और समीप पंजाब ही पड़ता है जहाँ 'उपनागर अपभ्रंश' नाम वाली बोली वैयाकरणों ने कल्पित कर ली होगी।

यहाँपर यह संदेह भी किया जा सकता है कि पंजाब में आभीरी, गुर्जरी भाषाओं का प्रफुल्लित एवं समृद्ध होना भी काफी प्राचीन समय से बताया जाता है। यहाँतक कि कई विद्वान् आभीरी को अपभ्रंश का मूल और पहला रूप मानते हैं जिसने सारे उत्तरी भारत में विजय प्राप्त कर ली थी। यह संदेह ठीक है परंतु

यह आभीर और गुर्जर पंजाब के आदि निवासी नहीं थे, सप्तसिंधु की धरती पर तो केवल उच्चवंशीय आर्य ही राज्य करते थे, निम्न जातियों का मिलन तो बाद में ही होता है। आभीर और गुर्जर (आहीर और गुज्जर-पंजाबी रूप) विदेशी थे और शायद दरद (पैशाच) जाति के वंशज थे। इसके विषय में डा० कीथ[२७] का कथन मानने योग्य है कि आभीर जाति, मालूम होता है, १५० बी० सी० में भारत में प्रविष्ट हुई। इसका कथन पतंजलि ने भी किया है। इनके पड़ोसी गुर्जर थे। ये दोनों जातियाँ दक्षिण, बिहार, उत्तरप्रदेश तक फैल गईं और राज्य करने लगीं। दोनों गुर्जर और आभीर जातियों का संबंध, शायद, भारतीय 'दरदीय' जाति से है। इससे सिद्ध होता है आभीरी तथा गुर्जरी पंजाब के सीमाप्रांत में बोली जाती थीं। परंतु विदेशी भाषाएँ होने के कारण पंजाबी भाषा के प्रारंभिक और मौलिक तत्वों को प्रभावित नहीं कर सकीं, चाहे इनका प्रभाव पंजाब की भाषा पर बहुत ही गंभीर हुआ होगा। न केवल पंजाबी पर, पुरानी पंजाबी, प्राकृत पर आभीरों और गुर्जरों ने प्रभाव डाला अपितु कुशानों, हूणों, सिथीअन और शकों ने भी अपनी अपनी भाषाओं का प्रभाव डाला, जो बाद में अन्य भी विदेशी जातियों के साथ बढ़ता ही गया। परंतु इन सब भाषाओं का प्रभाव शब्दावली और ध्वनियों तक ही सीमित रहा, व्याकरण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा प्रतीत होता, जैसा कि यह नियम सर्वत्र लागू है।

यहाँ एक अन्य प्रश्न भी उठ सकता है कि पंजाबी को 'कैकयी' प्राकृत के साथ ही अधिकतर क्यों जोड़ा जाता है, 'टक्की' या 'टाकी' के साथ क्यों नहीं, जो पूर्वी पंजाबी की बोली बताई जाती है? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि पहले तो किसी विद्वान् ने पंजाबी की उपज टक्की से बताई ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि टक्की मध्यदेशीय शौरसेनी के बहुत समीप थी जिसके कारण उसके उतने स्वतंत्र विकास की संभावना नहीं हो सकती जितनी कैकयी की हो सकती है, जो शौरसेनी से काफी दूर थी। इसके अतिरिक्त कैकयी का कथन पुराने ग्रंथों में भी आता है जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं। एक और अन्य बात भी इस मत की पुष्टि के लिये यह है कि पंजाबी का असली निखार जो पुराने से पुराने समय में मिलता है, वह पंजाब के पश्चिम की भाषा में ही अधिक है। भनाँ (एक नदी विशेष) और

२७. १—कीथ : हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर।
२—'अपभ्रंश और आभीर जाति' देखिए : हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२७ (द्वितीय संस्करण, सं० २०१८ वि०), डा० उदयनारायण तिवारी।

रावी से जैसे जैसे पूर्व की ओर आएँ पंजाबी की पंजाबियत कुछ कम होती जाती है। इसलिये इन आधारों को मुख्य रखते हुए यही ठीक प्रतीत होता है कि पंजाबी की जन्मदातृ 'कैकयी' ही है; जिसका विस्तार सारे आधुनिक पंजाब के क्षेत्र में होगा और जिसपर शौरसेनी का प्रभाव पड़ता होगा तथा जिसके अपभ्रंश रूप को कैकयी अपभ्रंश, टक्की अपभ्रंश या उपनागर अपभ्रंश कहा जाता होगा।

इस प्रसंग में एक और भी संकेत होता दिखाई देता है कि पंजाबी का स्वतंत्र मूल आज के पश्चिमी पंजाब की भूमि में ही दृढ़तापूर्वक स्थिर है—इसके संबंध में हम अभी संकेत कर आए हैं। इस संकेत की पुष्टि हमें दो तीन विचारों से भली-भाँति मिलती है। सबसे पहले, हमारे पंजाबी की उत्पत्ति संबंधी निर्णय के अनुसार पंजाबी की जन्मदातृ वह कैकयी प्राकृत है जिसका प्रचार और प्रसार अधिकतर आधुनिक पश्चिमी पंजाब के भाग में ही होता है। इससे तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि पंजाबी की जन्मभूमि लहंदा पंजाब है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो इस संकेत को पुष्ट करती है, वह ऐतिहासिक प्रमाण है। कुछ ऐतिहासिक पक्ष से हम देखते हैं कि फरीदजी (ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दीवाले) लहंदा पंजाबी के कवि हैं। कई विद्वानों के अनुसार फरीद पंजाबी भाषा और पंजाबी साहित्य के प्राचीनतम अग्रणी और उत्तम देशी कवि हैं। जब हम इनकी भाषा देखते हैं तो इसमें उस समय की पंजाबी भाषा के विशेष लक्षण विकसित हुए मिलते हैं जिनके आधार पर पंजाबी को अब पंजाबी कहा जाता है। क्रियाओं में (अंत में) 'द' की सत्ता, दा, दी, दे को 'थो', आदि परसर्गों के वियोगात्मक प्रयोग आदि कई ऐसे भाषाई अंश हैं जो अपने भरपूर रूप में उस समय (फरीद के समय) की पश्चिमी पंजाबी में मिलते हैं। फरीद के पश्चात् जो भी और इस पश्चिमी भाग की पंजाबी के लेखक हुए हैं उनकी भाषा में अधिकतर पंजाबीपन है अधिक ठेठता है, और अधिक निजत्व है। उदाहरण के रूप में भी पश्चिमी कवि शाह हुसैन की भाषा में (१४वीं १५वीं शताब्दी) जो पंजाबी की ठेठता है वह उसके समकालीन गुरू साहिबान की भाषा में नहीं है जो पूर्वी पंजाब के अधिकतर निवासी थे। चाहे इसका कारण कोई भी हो पर सत्य यही है। इस मत के पक्ष में एक बात और भी आती है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में सूफी मुसलमानों ने पंजाब में आकर अपने मत का जब प्रचार करना चाहा था और साधारण लोगों के साथ संपर्क स्थापित करना आरंभ किया था तब उन्होंने पंजाब के उस प्रदेश की भाषा को ही अपने विचारों का माध्यम चुना होगा जो सारे पंजाब की प्रतिनिधि भाषा हो, जो एक प्रकार से उस समय की केंद्रीय भाषा हो और जो ब्रज भाषा से पृथक् स्वतंत्र रूप में विकसित हो रही हो। यह भाषा लहंदा पंजाबी ही थी जिसको उन्होंने इस योग्य समझा और अपनाया। इन संक्षिप्त विचारों से यही सिद्ध होता है कि पंजाबी का उदय वास्तव में पश्चिमी

पंजाब की धरती पर ही होता है जहाँ इसने अपनी शौरसेनी प्रदेश के छोरों तक स्थापित कर ली। इस विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं कि—

१—पूर्वी पंजाबी और पश्चिमी पंजाबी दोनों एक ही भाषा की उप-भाषाएँ हैं।

२—पंजाबी की उत्पत्ति पैशाची से बिल्कुल ही सिद्ध नहीं होती।

३—पंजाबी की उत्पत्ति केवल शौरसेनी से भी संभव नहीं।

४—पंजाबी केवल अहीरों, गक्खड़ों, गुर्जरों की भाषा नहीं है। हाँ, पंजाबी पर अहीरों, गुर्जरों, पिशाचों की और ईरानी भाषाओं का प्रभाव अवश्य है।

५—पंजाबी की उपज वाल्हिकी से भी नहीं होती।

६—पंजाबी सहसा वैदिक संस्कृत से भी विकसित नहीं हुई है।

७—पंजाबी की उत्पत्ति 'कैकयी' प्राकृत से ही संभव है जिसकी उपप्राकृतें टक्की, पांचाली आदि थीं।

८—आधुनिक पंजाबी का उदय अधिकतर पश्चिमी पंजाब की ओर से ही होता है।

❀

समीक्षा

मानपुरी पदावली—सं० रामचंद्र चिंतामणि ढेरे, प्रा० अशोक प्रभाकर कामत, प्रकाशक—ह० ल० निपुणगे, पुष्पक प्रकाशन, ४११ ब, शनिवार पेठ, पूना २, मूल्य १.०० रु० ।

इस पुस्तक के विद्वान् संपादकद्वय ने निवेदन में ही 'मानपुरी-पदावली' को अभूतपूर्व कहा है। यह शोधकार्य है। मानपुरी की हिंदी में लिखित पदावली अभी तक ज्ञात और प्रकाशित नहीं थी। डा० विनयमोहन शर्मा ने 'हिंदी को मराठी संतों की देन' नामक प्रसिद्ध शोधप्रबंध में मानपुरी का न तो नाम लिया है और न उनकी रचनाओं की ओर ही कोई संकेत किया है। हिंदी में मराठी संतों पर किए गए अन्य शोधकार्यों में भी मानपुरी संबंधी आवश्यक सूचनाएँ नहीं मिलतीं। इस प्रकार इस पुस्तक में प्रदत्त मानपुरी परिचय संबंधी सामग्री और संपादित पदावली का महत्व स्वतः सिद्ध है। भूमिका में संपादकों ने बताया है कि मानपुरी बाबा कन्नौज (उ० प्र०) की देन हैं। इनका पूर्व संप्रदाय दसनामी था। इनकी मातृभाषा हिंदी थी। अतः मराठी संत कवियों से इनकी एक प्रकार की भिन्नता स्पष्ट है। मानपुरी की मराठी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। मानपुरी का अधिकांश जीवन महाराष्ट्र में बीता और वहीं उनका साधनाक्षेत्र भी रहा। इनका जीवनकाल १६३० ई० से १७३० ई० तक (१०० वर्ष) माना गया है। वस्तुतः यह महाराज शिवाजी, समर्थ गुरु रामदास, कवि भूषण और बुंदेली संतकवि निपट निरंजन का काल है। संपादकों ने इस संत कवि की दीक्षापरंपरा का विचारकर यह निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञानेश्वर की नाथसंप्रदायगत शिष्यपरंपरा में प्रसिद्ध दीनानाथ ही मानपुरी के गुरु रहे होंगे। स्वयं मानपुरी की शिष्यपरंपरा बीसवीं सदी तक जीवित रही है। मानपुरी ने अपनी रचनाओं में संत श्री ज्ञानेश्वर और मराठी भक्त कवि एकनाथ के गुरु श्री जनार्दन स्वामी के प्रति समानभाव से श्रद्धाभिव्यक्ति की है। इनके पदों में पीपा, नामदेव, कबीरदास, मीराबाई, धना, रैदास, सेना, सदन कसाई आदि का भी आदरपूर्वक स्मरण है। इनके संप्रदाय में बहुत से संतकवि हुए जिनका विवरण संपादकों ने अपनी भूमिका में दिया है। प्रसिद्ध देवगिरि या दौलताबाद ही इनके संप्रदाय का प्रमुख केंद्र है।

मानपुरी की रचनाओं का जहाँ तक प्रश्न है, इनकी रचनाएँ कुछ अन्य संत कवियों, जैसे निपट निरंजन के नाम से भी चल पड़ी हैं। संपादकों ने बताया है कि मानपुरी की पदावली में संगीतात्मकता प्रमुख है। इस पुस्तक में मानपुरी का

जीवनचरित, साधनसंप्रदाय आदि को इतने विस्तृत रूप में रखने का श्रेय तो इन संपादकों को मिला ही है साथ ही इनकी हिंदी पदावली के उद्धार और अनुसंधान का भी श्रेय इन संपादकों को ही मिला है। पुस्तक में प्रकाशित पद भारत इतिहास संशोधक मंडल (पूना), महाराष्ट्र संशोधन मंदिर (पूना), गोपालनाथ मठ (त्रिपुटी, जि० सतारा), समर्थ वाग्देवता मंदिर (धूलिया) तथा राजवाडे संशोधन मंदिर के हस्तलेखों से संग्रहीत किए गए हैं। इसके अतिरिक्त मौखिक परंपरा से भी पदों का संग्रह किया गया है। पाठनिर्णय करने में संपादकों को कठिनाइयाँ इसलिये अधिक उठानी पड़ीं कि उन्हें आवश्यक हस्तलेख पर्याप्त संख्या में नहीं मिल सके। दूसरे, उनको मिले हस्तलेख भी मराठी लेखकों के थे। प्रकाशित एवं संपादित पदवंदना, गुरुमहिमा, परमासक्ति, परमानंद, कृष्णलीला, उपदेश, और चिंतन के शीर्षकों में विभाजित करके रखे गए हैं। किंतु एक बात खटकनेवाली यह है कि इसमें हस्तलेखों के परिचय और पाठभेदों का अभाव है।

संपादकों के अनुसार मानपुरी पदावली की भाषा प्रधानरूप से व्रजभाषा है जिसपर मराठी भाषा का भी प्रभाव है। मानपुरी की भाषा व्रजभाषा, मराठी, दक्खिनी हिंदी और खड़ी बोली का समन्वित रूप है। इस पदावली की विशेषता है गीतात्मकता, संगीतात्मकता और रहस्यात्मकता। इन पदों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक के अंत में दो महत्वपूर्ण परिशिष्ट जैसे हैं, १—मानपुरी संप्रदाय के कवियों का काव्य : नमूना-संग्रह : और २—टिप्पणियाँ। वस्तुतः मानपुरी पदावली को ये टिप्पणियाँ दो दृष्टियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं—पारिभाषिक और मराठी शब्दों के अर्थ की दृष्टि से और तुलनात्मक अध्ययन और अध्ययनात्मक सूचनाओं की दृष्टि से। इस प्रकार संपादन, शोध और अध्ययन, तीनों ही दृष्टियों से यह पुस्तक लघु आकार की होते हुए भी अत्यधिक उपादेय और महत्वपूर्ण है। इतिहासलेखन के समय भी इसमें संपादित रचनाओं और उपलब्ध महत्वपूर्ण सूचनाओं को ध्यान में रखना हितकर होगा। इस महत्वपूर्ण शोधकार्य के लिये संपादकद्वय साधुवाद के अधिकारी हैं।

नागेंद्रनाथ उपाध्याय

अपभ्रंश काव्य और साहित्य

ले०—डा० देवेंद्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी—५; मूल्य १०)।

प्रस्तुत ग्रंथ में सामान्यरूपेण अपभ्रंश भाषा की चर्चा के साथ अपभ्रंश के काव्य और साहित्य की पुष्कल चर्चा ग्रंथकार ने की है। इसमें अपभ्रंश के सभी ज्ञात कवि और काव्यों के परिचय प्रामाणिक स्रोत के आधार पर दिए गए हैं। 'परिचय' प्रायेण वस्तुनिष्ठ, अतिरंजनहीन एवं स्पष्ट शब्दों पर आधृत है।

काव्य के विवरण में काव्यगत वस्तुवर्णन, काव्यों की रस सिद्धि, अलंकार और छंद की योजना और प्रकृतिचित्रण ये चार विषय व्याख्यात हुए हैं। काव्यगत समाज और संस्कृति का जो विवरण दिया गया है, वह चाहे कुछ अल्प प्रतीत हो, पर यह विवरण बहुत ही रोचक तथा विशद है। काव्यगत दार्शनिक मतों पर लेखक का संग्रह उचित ही है। यों अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक विशदता प्रायेण नहीं मिलती, अतः लेखक ने दार्शनिक मतों को लेकर गंभीर चर्चा नहीं की है। वस्तुतः यहाँ गंभीर चर्चा करना भी अप्रासंगिक होता।

समालोचक धर्म का अनुसरण कर हम कुछ स्थलों एवं दृष्टियों की आलोचना यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

'सांकेतिकी' में जो शब्दानुक्रम है, उसमें अकारादिक्रम से शब्दों को रखना चाहिए, अन्यथा अभीष्ट शब्दरूप के ज्ञान में बाधा होती है। अगले संस्करण में यह दोष दूरीकरणीय है।

पृ० १६१. विष्णुपुराण (४–५) के अनुसार······। यहाँ प्रकृत आकरनिर्देश होगा—विष्णुपुराण ४।५।१२ (जीवानंद संस्करण)। पहली संख्या से अंश, दूसरी से अध्याय और तीसरी से वाक्य समझना चाहिए।

पृ० १६६, टि० १। शब्दस्थापनक्रम की दृष्टि से वाक्य ऐसा होगा—'उपनिषद् में इन्हें अपरा और परा विद्या कहते हैं, बौद्धों में व्यवहार और परमार्थ सत्य कहते हैं और जैनों में व्यवहारनय और निश्चय की कल्पना है। यदि ऐसा ददक्रम न रखा जाय तो उपनिषद् के किस शब्द के लिये बौद्ध और जैन का कौन शब्द है, इसमें भ्रम होने की संभावना रहती है।

पृ० २०४, पं० ११–१२। लेखक की यह वाक्यरचना असाधु है—'इसके दो कारण हैं— १-सामंतवाद की उस युग में बहुपत्नी प्रथा थी ; २–धर्म की महिमा बताने के लिये'। वाक्य यों होना चाहिए—सामंतवाद की उस युग में बहुपत्नी प्रथा का होना ; २-धर्म की महिमा का ख्यापन। मैं समझता हूँ कि हिंदी का विशिष्ट लेखक कभी भी लेखकोक्ति वाक्य सदृश वाक्य का प्रयोग नहीं करेगा। यों प्रथम वाक्य बहुत दोषयुक्त नहीं है, पर द्वितीय वाक्य कथमपि रचनारीति की दृष्टि से शुद्ध नहीं कहा जा सकता; कारण के निर्देश में 'के लिये' वाक्यांश का प्रयोग प्रयोगरीति विरुद्ध है।

पृ० २७१.—साम, दाम, दंड और भेद (पं० २८)। दाम के स्थान पर दान होगा। प्रायेण हिंदी लेखक नीतिनामों के निर्देश में 'दाम' का प्रयोग करते हैं (साम के सादृश्य के आधार पर) जो दान ही होगा।

पृ० २५७ टि० १ । १० ब० अ० ग्रं० का तात्पर्य किस शब्द से है, यह संकेतकी में नहीं कहा गया। पृ० २९७ में 'ओलेर स्टाइन' कहा गया है; प्रकृत उच्चारण 'अरेल' है।

लेखक अनेक आवश्यक स्थलों में आकरनिर्देश नहीं करते हैं, यथा पृ० २९७ में भरतमुनि के मत के निर्देश में, या पृ० ३०१ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत के निर्देश में। ईदृश स्थलों में आकरनिर्देश न करना दोषावह है।

काव्य और साहित्य (अपभ्रंश साहित्य) से संबद्ध इस ग्रंथ में प्रायेण सभी आवश्यक विषयों का समावेश दिखाई पड़ता है। ग्रंथ के अंत में समाविष्ट प्रकीर्णक (१३ विषयों से युक्त) में अत्यावश्यक विषयों का समावेश है, इसमें संशय नहीं। विषय की व्यापकता को देखकर हम लेखक को धन्यवाद देते हैं।

रामशंकर भट्टाचार्य

हिंदी शब्दरचना

लेखक—माई दयाल जैन। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, मूल्य ६.०० ।

व्याकरण, शिक्षा और निर्वचनशास्त्र को ध्यान में रखकर प्रयोगक्षेत्र एवं शब्दनिर्माण को लक्ष्यकर प्रस्तुत ग्रंथ प्रणीत हुआ है। लेखक के विचारों की स्पष्टता सर्वत्र झलकती है तथा यह प्रतिभात होता है कि हिंदी के भविष्यत्कालिक निर्माण को लक्ष्य में रखकर लेखक ने उदार बुद्धि से यह ग्रंथ लिखा है। ग्रंथ में अपने विषय के सभी पक्ष सामान्य विशेष रूप से आलोचित हुए हैं। शब्दस्वरूप संबंधी सामान्य आलोचना के साथ सामासिक (समस्त) शब्द, व्युत्पत्तिलभ्य शब्द, संख्यावाचक शब्द, उधार लिए शब्द, विदेशी शब्द, शब्दों का अनुवाद, अर्थ-परिवर्तन, वर्णपरिवर्तन, सांकेतिक शब्द, विमिश्र शब्द, पारिभाषिक शब्द, भिन्नार्थक शब्द, संज्ञाएँ, क्रियाएँ आदि विषय इस ग्रंथ में आलोचित हुए हैं। लेखक ने व्यवहारक्षेत्र से जो शब्दसंकलन किया है, वह स्तुत्य है; हम इस प्रचेष्टा का अभिनंदन करते हैं, क्योंकि इस पद्धति से ही शब्दसंबंधी सार्थक विचार किया जा सकता है। बोली पर ग्रंथकार का आग्रह कुछ अधिक है, ऐसा प्रतीत होता है, पर बोली संबंधी उनका विचार बहुतों का आकृष्ट करेगा। बोली की शक्ति पर ग्रंथकार ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, जो आवश्यक था।

ग्रंथकार ने अनेक स्थानों पर कोशकार आदि को लक्ष्यकर जो सावधान वाणी कही है वह दर्शनीय है। विभिन्न पाश्चात्यदेशीय भाषाओं के शब्दों को हिंदी कोशकार 'अंग्रेजी भाषा के शब्द' के रूप में लिखते हैं; यह एक दोष है, जिसका दूरीकरण तत्काल ही करना है (पृ० १०५)। लेखक का यह मत अवश्य ही

स्वीकार्य होना चाहिए। हिंदी में सुगृहीत पाश्चात्यभाषीय शब्दों का (यथा, इंच, चेयर, गैस, ट्राम, रेल, बिलप, इंजिन आदि) अनुवाद करने की एक प्रथा आजकल दिखाई पड़ती है, जिसका विरोध लेखक ने किया है (पृ० १०६)। ईदृश शब्द भारतीय भाषाओं में मिल गए हैं, यह हम भी मानते हैं। ईदृश शब्दों का बहिष्कार न संभव ही है, न वांछनीय ही, यह मत ग्राह्य होना चाहिए। हम भी इस पक्ष को मानते हैं। विदेश के रीतिरिवाज संबंधी शब्दों के अनुवाद में जिस कठिनाई का उल्लेख किया गया है (पृ० ११५), वह सत्य ही है। ईदृश स्थलों में अनुवादक को टिप्पणी में शब्द को स्पष्ट कर देना चाहिए।

हिंदी (प्रचलित हिंदी तथा जो हिंदी आगामी काल में विकसित होगी) के विषय में लेखक के सुझावों और मतों पर विद्वानों को सोचना चाहिए। हिंदी में नामधातु के प्रयोगों पर लेखक का मत विचारोत्तेजक है। संस्कृत 'नमति' के लिये 'नमन करता है' लिखा जाता है। लेखक का आग्रह है कि 'नमता है' भी हिंदी में चलना चाहिए। उसी प्रकार 'प्रकाशता है', 'प्रकटता है', 'प्रारंभना चाहिए', 'स्वीकारना चाहिए' (२१वाँ परिच्छेद) आदि प्रयोग भी वांछनीय है, यह ग्रंथकार कहना चाहते हैं। यदि ईदृश प्रयोग स्वीकृत हो जाएँ तो शब्दप्रयोग में लघुता होगी। युक्तितः ईदृश प्रयोगों में कोई बाधक तत्त्व नहीं है। मुझे ज्ञात है कि कवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने बँगला में ईदृश प्रयोगों का प्रवर्तन किया था, पर यह रीति बढ़ी नहीं। हिंदी में यदि यह प्रवृत्ति विकसित हो तो एक अच्छी बात होगी। प्रेषणीय की भेजनीय (पृ० १६७), जी हुजूर के स्थान पर 'ना हजूर' (पृ० १९८) इलेक्ट्रीफाइ के अर्थ में बिजलियाना (पृष्ठ २४६) आदि सुझावों पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

हिंदी के विषय में लेखक के कुछ कथन उदाहार्य हैं—(१) हिंदीवाले जड़ पदार्थों में लिंगभेद अभ्यास से ही करते हैं (पृ० १६); (२) विसर्गों को हिंदीवालों ने उड़ा दिया है (पृ० १४६); (३) हिंदीवालों की सफलता का मापदंड यही होगा कि वे कितने संस्कृत, पाली, प्राकृत, जनपदीय तथा विदेशी शब्दों को हिंदिया कर पचा सकते हैं (पृ० १४८); (४) कापीबुक को कापी कहा जाता है, जो अंग्रेजी में अशुद्ध है, पर हिंदी में शुद्ध (पृ० १८१); (५) शायद इसी लिये हवाई जहाज के लिये वायुयान से छोटा होने पर भी विमान शब्द प्रचलित नहीं हुआ (पृ० २०१) आदि।

हिंदी की प्रकृति को ग्रंथकार ने कैसा समझा है, उपर्युक्त उदाहरणों से यह जाना जा सकता है। जहाँतक मुझे ज्ञात है मैं कह सकता हूँ कि हिंदी के अधिकांश विद्वान् लेखक से सहमत ही होंगे। डिस्पेंसरी के लिये चिकित्सालय शब्द के स्थान

पर दवाखाना–औषधालय शब्द चलना चाहिए (पृ० १७१) इत्यादि कई सुझाव उचित ही प्रतीत होते हैं।

अब हम लेखक के उन मतों पर विचार कर रहे हैं, जो हमारी दृष्टि में संगत नहीं है —

(१) संस्कृत उपसर्ग के निर्देश में 'उत्' को उपसर्ग के रूप में कहा गया है (पृ० १०)। वस्तुतः प्रकृति शब्द 'उद्' है, 'उत्' नहीं। यह भ्रम अनेक विद्वानों में देखा जाता है। पाणिनि को उदि कूले रुजिवहोः (अष्टा ३।१।३१), उदश्चरः सकर्मकात् (१।३।५३) 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (८।४।६१) आदि सूत्रों से उपसर्ग का प्रकृत रूप 'उद्' ही सिद्ध होता है, 'उत्' नहीं।

(२) बहुव्रीहि समास के उदाहरण में 'सप्तऋषि', 'हरिजन' शब्द दिए गए हैं (पृ० ६५)। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इन दोनों में बहुव्रीहि समास नहीं है, क्योंकि बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ प्रधान होता है, जो यहाँ नहीं है। सप्तऋषि द्विगु-समास है। हरिजन शब्द वस्तुतः गांधी जी (या अन्य किसी के द्वारा) जनसमूह-विशेष में नियमित हुआ है, अतः यह पारिभाषिक शब्द है, वाचक नहीं। अतएव 'हरि का जन' हरिजन—इस अर्थ में यहाँ तत्पुरुष समास ही होगा। बहुव्रीहि होने पर 'हरि जन है जिसका' वह (अन्य व्यक्ति), 'हरिजन' होगा। क्या यह अर्थ अभीष्ट है? क्या 'हरि' किसी का जन हो सकता है?

(३) सशर्त में स को संस्कृत व्याकरण का उपसर्ग माना गया है (पृ० १२६)। वस्तुतः 'स' 'सह' के स्थान पर आया है। शर्त के साथ = सहशर्त = सशर्त। यह उपसर्ग नहीं है। उसी प्रकार अक्लिष्ट में 'अ' को जो उपसर्ग माना गया है (पृ० १२६), वह भी असंगत है।

(४) असुर शब्द देवतावाचक है (पृ० १६१) यह कथन भी अंशतः सदोष है। प्राचीन वैदिक वाङ्मय में असुर का अर्थ था 'असु है जिसका' (असु + र प्रत्यय)। असु का अर्थ है – प्राण, सत्व, बल आदि। (असुर शब्द वरुण आदि देवों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है)। इस दृष्टि से 'असुराः अदेवाः' (ऋग्वेद ८।८५।६) में अदेव के साथ असुर का प्रयोग दृष्ट होता है, जिसका अर्थ है—'वे महासत्वशाली जो देव नहीं हैं।'

(५) हिंदी में 'समासयुक्त' के लिये सामासिक शब्द का प्रयोग ग्रंथकार ने किया है (पृ० ७३)। 'सामासिक' शब्द आजकल खूब चल भी रहा है, पर संस्कृत के ग्रंथों में इस अर्थ में 'समस्त' शब्द ही चलता है। क्या समस्त शब्द (जिन शब्दों में समास हुआ है, उनको समस्त शब्द कहा जाता है) का प्रयोग हिंदी के वैयाकरण नहीं करना चाहते?

(६) अंग्रेजी बंब का हिंदी में बम रह गया है (पृ० १४१), यह कहकर लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि यहाँ शब्दांश का लोप हुआ है। पर सच तो यह है कि बंब का उच्चारण बम ही होता है, बंब नहीं। (अंत्य ब का उच्चारण नहीं होता) यह किसी भी कोश से जाना जा सकता है। क्यों न ऐसा समझा जाय कि अंग्रेजी के उच्चारण के अनुसार ही 'बम' शब्द हिंदी आदि में प्रयुक्त होता है।

(७) ग्रंथकार ने अननुवाद्य (जो अनुवाद योग्य नहीं है) के लिये 'अनअनुवाद योग्य' (पृ० १३१) शब्द का प्रयोग किया है। हम इसकी युक्तता को जान नहीं सके। शुद्ध संस्कृत शब्द के साथ व्यर्थ ही यह वैचित्र्य एक खिलवाड़ मालूम पड़ता है। 'अन अनुवाद योग्य' की क्या कोई आवश्यकता है या भाषा प्रकृति के अनुसार यह वांछनीय है ? इसी प्रकार 'दुअर्थक' प्रयोग (पृ० २८३) भी चिंत्य है। जब 'अर्थ' शब्द एवं 'क' प्रत्यय संस्कृत से आप लेते हैं, तो 'द्वि' ही रखें, 'द्वि' के स्थान पर 'दु' न करें।

(८) लेखक कहते हैं कि बौद्ध या बुद्ध शब्द से हिंदी का 'बुद्धू' शब्द बना (पृ० १६३)। यह मूर्खवाची है, यह भी लेखक कहते हैं। लेखक ने इसको भाषावैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध नहीं किया, केवल मतमात्र कहा है। हमें इस मत की युक्तता में संदेह है।

अब हम लेखक के कुछ भ्रांत निर्देशों का उल्लेख कर रहे हैं। पृ० १५६ में 'डा० कपिलदेव मालवीय' नाम लिया गया है; मालवीय के स्थान पर 'द्विवेदी' होगा। पृ० १६० में 'तद्धित और कृदंत के प्रकरण में' कहा गया है; कृदंत के स्थान पर कृत् होगा। हिंदी के अनेक यशस्वी ग्रंथकार भी ऐसी गलती करते ही रहते हैं। हिंदी व्याकरणों में 'कृदंती प्रत्यय' शब्द मैंने देखा है। पता नहीं कब हिंदीवाले संस्कृत व्याकरण को ठीक से पढ़कर हिंदी का व्याकरण लिखेंगे। पृ० २५७ में राघव को गोत्र नाम कहा गया है; राघव रघु से बना है। रघु कोई गोत्र नहीं है (गोत्रप्रवर सूची में रघु नाम नहीं है)। पृ० २५७ में कहा गया है कि पतंजलि का नाम 'गोदीर्य' था। यह गोनर्दीय होगा। महाभाष्य के कई स्थलों में गोनर्दीय नामक आचार्य स्मृत हुए हैं (१।१।२१; १।१।२९; ३।१।९२; ७।२।१०१)। गोनर्दीय = पतंजलि ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं (प्रदीप १।१।२१)। आधुनिक विद्वानों ने इस मत पर संशय व्यक्त किया है। जो कुछ भी हो, 'गोदीर्य' पाठ भ्रष्ट ही है। पृ० २५८ में वंशों की अल्ल के उदाहरण में लेखक ने 'टैगोर' शब्द (रवींद्रनाथ टैगोर) का उल्लेख किया है। एक भारतीय के जातिनाम की ईदृश विकृति क्षंतव्य नहीं है; प्रकृत शब्द 'ठाकुर' है, 'टैगोर' नहीं। हिंदीवाले यदि टैगोर शब्द का प्रयोग बंद कर दें तो अच्छी बात होगी। पृ० २५८ में 'एक ऋषि का नाम

पर्वाणस्तर्वाणः' था कहा गया है। महाभाष्य का संदर्भ है—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः, (पस्पशा)। यहाँ बहु विभक्ति हुई है, यह व्याख्याकार कहते हैं, अतः 'अनेक ऋषियों का नाम' कहना चाहिए। यह संभावना है कि इस ऋषि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति भी इसी शब्द से अभिहित होता था (डा० क्षितीशचंद्र चट्टोपाध्याय ने इस मत को कहा है (द्रष्टव्य तत्संपादित पस्पशाह्निक की टिप्पणी), पर तब भी 'यर्वाणस्तर्वाणः' शब्द बहुवचनांत ही होगा। पृ० २५६ में 'पारिभाषिक संज्ञाएँ जो पारिभाषिक शब्दों को बताने के लिये बनाई जाती हैं', वाक्य है। यहाँ 'पारिभाषिक अर्थों को बताने के लिये...' कहना चाहिए। पृ० १ में वाक्यपदीय १।१२५ का जो श्लोक उद्धृत हुआ है, उसमें 'चोपबंधिनी' छपा है, जो 'चोपबन्धनी' होगा, जो इस ग्रंथ को विभिन्न संस्करणों को देखने से ही ज्ञात होगा।

अंत में हम लेखक से कहना चाहते हैं कि बोली की महिमा से हम सब परिचित हैं। पर सर्वभारतव्यापी शब्दैक्य एवं सूक्ष्म तत्व संबंधी चिंतनों का प्रकटन—इन दोनों क्षेत्रों में संस्कृत शब्दों की महत्ता और आवश्यकता को अपलापित नहीं किया जा सकता। बोलचाल की भाषा में 'तिकोन' चल सकता है (पृ० २५२), पर ज्यामिति आदि में त्रिकोण को ही चलाना होगा। शिक्षणीय विषय कष्टसाध्य होते ही हैं। अतएव यदि उपर्युक्त दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनेक संस्कृत शब्द उचित रूप से निर्मित हो तो उनको जानने के लिये सभी को कष्ट करना ही होगा। हिंदीवालों के परस्पर व्यवहार में 'बिचौलिया' (लेखकसंमत शब्द) शब्द भले ही चल जाए, पूर्ण भारत में शिक्षणीय शब्द तो 'मध्यस्थ' ही रहेगा। आदर्श की व्याप्ति और सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर बोलीप्रेमियों को यह कष्ट स्वीकार कर लेना चाहिए।

रामशंकर भट्टाचार्य

जीवन के कुछ क्षणों में,—लेखक—श्री तनसुख राम गुप्त; प्रकाशक-सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या—७२+८; मूल्य—२.०० रुपए।

एक साधारण घटना जिसके घटित होने में कुछ क्षण ही लगते हैं, मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जिस व्यक्ति या व्यक्तियों का उस घटना से संबंध होता है, उनके लिये वह घटना कुछ मूल्य नहीं रखती, पर विचारशील जनों के लिये उस घटना का समाज और जीवनव्यापी मूल्य होता है। उसके आधार पर सामाजिक कुरीतियाँ, मानव की कमजोरियाँ और उसके उदात्त भाव, कथनी करनी का अंतर आदि स्पष्ट होते हैं। वे क्षणिक घटनाएँ मानव मन पर अपनी एक अमिट छाप छोड़कर चली जाती हैं और एक ऐसी शिक्षा दे जाती हैं जिससे वर्तमान

जनजीवन को सुखद बनाया जा सकता है। ऐसी ही एक साधारण घटना से प्रेरित होकर 'जीवन के कुछ क्षणों में' की रचना हुई है। इसमें जीवन में घटित अथवा देखी हुई ३५ घटनाओं का चित्रण है। इन संस्मरणों के अंत में लेखक ने उन उन घटनाओं से प्राप्त होनेवाले उपदेश को भी स्वतंत्र रूप से दे दिया है। इससे प्रत्येक घटनाओं के साथ उपदेश या उससे मिलनेवाली शिक्षा का लाभ जनसाधारण भी उठा सकते हैं। लेखक ने समाज को जिस दृष्टि से देखा समझा है, वह दृष्टिकोण समाज को, प्रत्येक व्यक्ति को, अनुशासनप्रियता, स्वतंत्रता, उच्च विचार, दया, करुणा आदि से, और भी दृढ़ एवं ऊँचा बनाता है। पुस्तक की भाषा संयत, सरल और शुद्ध है। कहीं करुणा, कहीं व्यंग्य विनोद, कहीं हास्य, आदि होते हुए भी इसकी सत्यता और उपदेशात्मकता सर्वोपरि है। पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण और उपयोगी है।

—जगदीश शर्मा

हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथ—लेखक—कृष्णाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्राप्तिस्थान—नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६, पृ० सं० २४१; मूल्य ७.०० रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी में इस विषय पर प्रकाशित प्रथम कृति है जिसमें ई० १८०१ से ई० १८७० तक की अवधि में मुद्रित हिंदी के ग्रंथों का विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से क्रमबद्ध है। विशेषतः हिंदी ग्रंथों के मुद्रण की दृष्टि से यह काल प्रारंभिक रहा है और इस अवधि में लल्लूजी लाल से लेकर राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद तक का समय आ जाता है। हिंदी के विकास की दृष्टि से भी यह काल महत्वपूर्ण है अतः हिंदी साहित्य के चिंतकों, मनीषियों एवं अनुसंधानार्थियों के लिये इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। हिंदी साहित्य भांडार के लिये यह विवरण एक दुर्लभ उपलब्धि है।

ग्रंथ का क्रमविभाजन निम्नांकित रूप से किया गया है। प्रारंभ प्रास्ताविकी से है जो हिंदी मुद्रणकला का इतिहास है। प्रथम खंड के तीन अंश लल्लू जी युग, मिशन युग और शिवप्रसाद युग के नाम से हैं और तदनंतर पत्रिका साहित्य का विवरण है। द्वितीय खंड में अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय भाषाओं मे हुए कार्य और अंग्रेजी माध्यम के द्विभाषिक, त्रिभाषिक कोश ग्रंथों का विवरण है। अंतिम भाग में परिशिष्ट, ग्रंथ एवं ग्रंथकारानुक्रमणी तथा हिंदी मुद्रण के प्रारंभिक १२ चित्र हैं।

ग्रंथ के प्रास्ताविकी भाग में लेखक ने हिंदी मुद्रणकला का परिचय और उसका क्रमिक इतिहास दिया है। इसमें भारत में मुद्रणकला का प्रवेश और आरंभ, नागरी टाइपों का आविष्कार एवं विकास, तत्कालीन मुद्रणालय और मुद्रणालय संबंधी तत्कालीन राजकीय नियम आदि आ जाते हैं। हिंदी मुद्रण के इस काल का

विभाजन भी क्रमशः लल्लू जी युग, मिशनरी युग और शिवप्रसाद युग के नाम से किया गया है। यह अंश ग्रंथ का अविच्छेद्य अंग है। इससे अनेक ज्ञातव्य सूचनाएँ प्राप्त होती हैं; जैसे,—हिंदी की पहिली पुस्तकें सन् १८०१ में कलकत्ता में छपीं। प्रकाशित उन प्रथम पाँच पुस्तकों में से एक ही पुस्तक अपने देश में प्राप्त है, अन्य नहीं। खड़ी बोली का प्रथम प्रयोग लल्लू जी लाल कृत प्रेमसागर में हुआ; नागरी और बंगला टाइपों का प्रथम निर्माण श्री पंचानन कर्मकार ने किया और सर्वप्रथम १८०५ ई० में मिर्जापुर के रहनेवाले बाबूराम नामक सज्जन ने हिंदी का मुद्रणालय खोला, इत्यादि।

हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथों में श्रीरामपुर प्रेस से मुद्रित बाइबिल के हिंदी अनुवादों का भी प्रमुख स्थान है। लेखक ने इसपर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सन् १७५४-५८ के मध्य शुल्ज ने हाले से बाइबिल का अनुवाद छपाया और बाद में १८०५ में बाइबिल का हिंदुस्तानी अनुवाद छपा जिसकी भाषा फारसी से बोझिल उर्दू थी। इस अनुवाद के संबंध में विलियम केरी ने जो लिखा वह ध्यान देने योग्य है। हिंदुस्तान की किस बोली को हिंदुई या हिंदी कहा जाता है यह बात उनके कथन से सुस्पष्ट होती है। विलियम केरी का उक्त कथन इस प्रकार है—हम हिंदुस्तान की उस बोली को हिंदुई या हिंदी समझते हैं, जो मुख्यतः संस्कृत से बनी है और जो मुसलमानों के आने से पूर्व संपूर्ण हिंदुस्तान में बोली जाती थी। अब भी यह बहुत व्यापक क्षेत्र में बोली जाती है विशेषकर जनसाधारण के मध्य।

हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथों के विवरण के साथ हिंदी मुद्रण के प्रारंभिक काल पर भी प्रामाणिक विवरण उपस्थित करनेवाले प्रस्तुत ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट अंश क्रमशः अंग्रेजी और हिंदी में है जिसमें सन् १८२७ में मुद्रित हिंदी एंड हिंदुस्तानी सेलेक्शन पर विलियम प्राइस का इंट्रोडक्शन और जे० टी० थॉम्पसन के ए डिक्शनरी इन हिंदी एंड इंगलिश' का प्रीफेस मुद्रित है। लल्लू जी लाल तथा शिवप्रसाद सितारेहिंद के संबंध में भी एक शोधपूर्ण लेख दिया गया है और अनुक्रमणी तथा प्रारंभिक हिंदी मुद्रण के परिचायक १२ चित्र भी दिए गए हैं जो दुर्लभ हैं। ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ के लेखक और साथ ही प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

— विश्वनाथ त्रिपाठी

हिंदी नाट्य साहित्य : ग्रंथपुंजी—लेखक—कृष्णाचार्य, प्रकाशक—अनामिका प्रकाशन; १२६ चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; पृ० १६८; मूल्य—२०.०० रुपए।

प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी के नाट्यसाहित्य का पूर्ण विवरण उपस्थित करता है और हिंदी के संदर्भग्रंथों में महत्वपूर्ण है। लगभग एक शताब्दी, १८६३ ई० से १९६५ ई० तक के नाट्यसाहित्य का विवरण क्रमबद्ध एवं वर्गीकृत रूप में ग्रंथ में

समाविष्ट है। पूर्णकालिक नाटक, एकांकी, अनुवाद–भारतीय भाषाओं से तथा यूरोपीय देशों से, और इतिहास एवम् आलोचना तथा शास्त्र वर्गों में हिंदी नाट्यसाहित्य से संबद्ध सभी विषय के ग्रंथ आ जाते हैं। पूर्णकालिक एवं एकांकी नाटकों के कुल १११४ लेखकों द्वारा लिखित २५०० के लगभग नाटकों एवम् एकांकी नाटकों का विवरण इसमें आकलित है। इसके अतिरिक्त अनुवाद, इतिहास, आलोचना और शास्त्र के ग्रंथ भी हैं। अंत में अनुक्रमणिका है अक्षरानुक्रमित। कालानुक्रमित अनुक्रमणिका होने से विषय की ऐतिह्य परंपरा और विकासक्रम अपेक्षाकृत सुस्पष्ट होता है। हिंदी के आदिमुद्रित ग्रंथ जैसी महत्वपूर्ण कृति के अनंतर राष्ट्रीय संग्रहालय हिंदी विभाग के पुस्तकाध्यक्ष कृष्णाचार्य की यह दूसरी कृति है। कलकत्ते की प्रमुख नाट्यसंस्था 'अनामिका' द्वारा इसका प्रकाशन सरकारी सहायता के माध्यम से हुआ है। पुस्तक का मुद्रण और कागज उत्कृष्ट है तथा मुखावरण विषय संबद्ध है। प्रस्तुत ग्रंथ हिंदीसाहित्य के अध्येताओं, विशेषत: नाट्यसाहित्य के अध्येताओं, चिंतकों एवम् शोधकों के लिये नितांत ही उपयोगी है।

—जगदीश शर्मा

डंगवै कथा तथा चक्रव्यूह कथा (भीम कवि)—संपादक—डा० शिवगोपाल मिश्र; प्रकाशक–हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग; पृ० सं० २७०; मूल्य ६.२५ रुपए।

भीम कवि की इन कृतियों का यह प्रकाशन हिंदी के लिये प्रथम है। पंद्रहवी शती के अंतिम चरण का यह कवि और इसकी रचनाएँ अज्ञात रही हैं। कवि की इन दोनों कृतियों का आधार महाभारत के आख्यान हैं, जिनमे रोचकता और सरसता अवधी के माध्यम से व्यक्त की गई है। डंगवै कथा में उर्वशी का दुर्वासा के शाप से घोड़ी होने का और इसी क्रम मे घोड़ी और उसके आश्रयदाता दंगी की रक्षा के लिये भीमसेन और कृष्ण के युद्ध का तथा उर्वशी की शापमुक्ति की कथा निबद्ध है। चक्रव्यूह कथा प्रसिद्ध ही है जिसकी परिसमाप्ति जयद्रथ वध से होती है। कवि ने दोनों कथाओं मे कुछ परिवर्तन किया है जिससे कथा रोचक और सरस हो उठी है। शृंगार और वीर रस के वर्णन अनुरूप हैं। मूल के प्रारंभ में 'कविपरिचय', 'भाषावैज्ञानिक अध्ययन' तथा 'भूमिका' शीर्षकों से संपादक ने शोधपूर्ण विचार उपस्थित किए हैं जिनसे भीम कवि और उनकी रचनाओं की विशिष्टता व्यक्त होती है। अंत मे 'शब्दमाधुरी' के अंतर्गत विशिष्ट शब्दों के अर्थ और यथासंभव व्युत्पत्ति भी दी गई है जो अर्थनिर्धारण में सहायक है। विस्मृत कवि भीम की इन कृतियों का अन्वेषण, संपादन और प्रकाशन हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक ३-४

वार्षिक मूल्य १०.००
एक अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

वार्षिक विषयसूची

पौराणिकी

विमर्श

विविध

समीक्षा